युगप्रवर्तक क्रांतिकारी आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज : व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महान् संस्कृति है जो हजारों वर्षों से गंगा के विशाल प्रवाह की तरह जन-जन के अन्तर्मानस में प्रवाहित हो रही है; मन और मस्तिष्क का परिमार्जन कर रही है। यह संस्कृति मूलतः दो संस्कृतियों का समन्वित रूप है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति में बाह्यशुचिता, सम्पन्नता एवं समृद्धि को प्रोत्साहन दिया गया है, तो श्रमण संस्कृति में अन्तरंग पवित्रता, आत्मगुणों का विकास एवं आत्मलीनता पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक संस्कृति का मूल प्रकृति है तो श्रमण संस्कृति का मूल स्वात्मा है। प्रथम बाह्य है तो दूसरी आन्तर है। प्रकृति के विविध पहलुओं, घटनाओं को निहारकर समय-समय पर ऋषियों ने जो कल्पनाएँ कीं उनमें से ब्रह्म का स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है किन्तु श्रमण संस्कृति का आत्मचेतना की ओर अधिक झुकाव रहा है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है—प्रत्येक प्राणी में एक चिन्मय ज्योति छिपी हुई है चाहे कीड़ा हो, चाहे कुंजर, पशु हो या मानव, नरक का जीव हो या स्वर्ग का अधीश्वर देवराज इन्द्र हो, सभी में वह अखण्ड ज्योति जगमगा रही है। किसी ने उस ज्योति का विकास किया है तो किसी में वह ज्योति राख से आच्छादित अग्नि के समान सुप्त है। वैदिक संस्कृति में परतन्त्रता, ईश्वरालम्बन और क्रियाकाण्ड की प्रमुखता रही तो श्रमण संस्कृति में स्वातन्त्र्य, स्वावलम्बन और विशुद्ध आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास रहा।

श्रमण संस्कृति का मूल शब्द "समण" है जिसका संस्कृत रूपान्तर है श्रमण, शमन और समन।

श्रमण शब्द श्रम् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है परिश्रम करना, उद्योग करना। इस संस्कृति में तथा-कथित ईश्वर मुक्तिदाता नहीं है, वह सृष्टि का कर्ता-धर्ता और हर्ता नहीं है। इस संस्कृति की मान्यतानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम और सत्कार्यों से ईश्वर बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं, किन्तु आत्म-विकास से स्वयं उस चरम स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

शमन का अर्थ शान्त करना है। श्रमण अपनी चित्तप्रवृत्तियों के विकारभावों का शमन करता है। उसकी मूल साधना है आत्म-चिन्तन और भेद-विज्ञान। चारों वर्ण वाले समान रूप से आत्म-चिन्तन करने के अधिकारी हैं और मुक्ति को प्राप्त करने के भी। साधक शत्रु-मित्र, बन्धु-बान्धव, सुख-दुःख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन और मरण जैसे विषयों में भी समत्व भावना रखता है।[1]

समन शब्द का अर्थ समानता है। श्रमण संस्कृति में सभी जीव समान हैं, उसमें धन, जन, परिजन की दृष्टि से कोई श्रेष्ठ और कनिष्ठ नहीं है। आत्म-भाव में स्थिर रहकर साधना करना समानता है।

इस तरह श्रमण संस्कृति का मूल श्रम, शम और सम है। ये तीनों सिद्धान्त विशुद्ध मानवता पर आधारित हैं। इसमें वर्ग-भेद, वर्ण-भेद, उपनिवेशवाद आदि असमानता वाले तत्त्व नहीं हैं।

श्रमण संस्कृति ने आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। आत्मा की अन्तरंग पवित्रता, निर्मलता और उसके गुणों का विकास करने में श्रमण संस्कृति ने उदात्त चिन्तन प्रस्तुत किया है। आत्मा की अनन्त ज्ञान शक्तियाँ, अनन्त विभूतियाँ और अनन्त सुखमय स्वरूप दशा के विकास में जागरूक ही नहीं प्रयत्नशील भी रही हैं। आत्म-गुणों का चरम विकास ही इस संस्कृति का मूल ध्येय रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक असंख्य साधकों ने आत्म-साधना के महान पथ पर कदम बढ़ाये हैं, आत्म-जागरण और आत्म-विकास तथा आत्म-लक्ष्य तक पहुँचते रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहासविज्ञों का अभिमत है कि भगवान महावीर का युग श्रमण संस्कृति का स्वर्ण-युग था। इस युग में श्रमण संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। हजारों-लाखों साधकों ने आत्म-कल्याण व जन-कल्याण किया। काल प्रवाह से उसमें कुछ विकृतियाँ आ गयी थीं, जिसे श्रमण भगवान महावीर ने अपने प्रबल प्रभाव से दूर किया और नया चिन्तन, नया दर्शन देकर युग को परिवर्तित किया।

भगवान महावीर ने चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में जो क्रान्ति कर अवरुद्ध प्रवाह को मोड़ा था, परिस्थितिवश पुनः उस प्रवाह में मन्दता आ गयी, धार्मिक अन्धविश्वासों ने मानव के चिन्तन को अवरुद्ध कर दिया था। अतः क्रान्तिकारी ज्योतिर्धर आचार्यों ने पुनः क्रान्ति की।

सन्त परम्परा के समुज्ज्वल इतिहास में सोलहवीं शदी का विशेष महत्व है। इसी युग को वैचारिक क्रान्तिकारियों का युग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कबीर, नानक, सन्त रविदास, तरण-तारण स्वामी और लोंकाशाह आदि ने क्रान्ति की शंखध्वनि से भारतीय जनमानस को नवजागरण का दिव्य सन्देश दिया। धर्म के मौलिक तत्त्वों के नाम पर जो विकार, असंगतियाँ और कलह-मूलक धारणाएँ पनप रही थीं उनके प्रति तीव्र असन्तोष व्यक्त किया। उन क्रान्तिकारियों के उदय से स्थितिपालक समाज में एक हलचल उत्पन्न हो गयी और परिणामस्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाएँ उद्‌बुद् हुईं। यह एक ऐतिहासिक परखा हुआ सत्य है कि मानव-संस्कृति का वास्तविक पल्लवन और संवर्धन संघर्ष की पृष्ठभूमि में ही होता है। शान्तिकाल में तो भौतिक समृद्धि और उसकी चकाचौंध पनप सकती है किन्तु क्रान्ति और नव-सृजन संघर्ष की पृष्ठभूमि पर ही पनपते हैं। यही कारण है सन्त परम्परा का विकास विपरीत परिस्थितियों में हुआ है। वह विशाल और उदात्त भावनाओं को लेकर पाशविकता से लड़ी और सुदृढ़ सौन्दर्यसम्पन्न परम्पराएँ डालीं जिन पर मानवता सदा गर्व करती रही।

श्रमण संस्कृति की एक क्रान्तिकारी परम्परा स्थानकवासी समाज के नाम से विश्रुत है जिसने साधना, भक्ति और उपासना के क्षेत्र में विस्तार किया। यह एक अध्यात्मप्रधान सम्प्रदाय है। इसमें यम, नियम और संयम की प्रधानता है। मानव-जीवन के मूल्य व महत्व का इसमें सही-सही अंकन किया गया है। इस परम्परा का उद्देश्य मानव को भोग से योग की ओर, संग्रह से त्याग की ओर, राग से विराग की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, असत्य से सत्य की ओर ले जाना है।

श्रद्धेय मरुधर धरा के उद्धारक युग-प्रवर्तक पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज इसी संस्कृति के सजग और सतेज सन्तरत्न थे। अपने युग के परम विद्वान, विचारक और तत्ववेत्ता थे। आपके अगाध पाण्डित्य व विद्वत्ता की सुरभि दिग्-दिगन्त में फैल चुकी थी और आज भी वह मधुर सौरभ जन-जन के मानस को अनुप्रेरित व अनुप्राणित करती है। आपका ज्ञान निर्मल था, सिद्धान्त अटल था और आप स्थानकवासी परम्परा व श्रमण संस्कृति की एक विमल विभूति थे।

पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज का जन्म भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ। दिल्ली की परिगणना भारत के प्रधान नगरों में की गयी है। यह वर्षों से भारत की राजधानी रही है। इस महानगरी का निर्माण किसने किस समय किया इस सम्बन्ध में विज्ञों में एकमत नहीं है। दिल्ली राजावली, कवि किसनदास व कल्हण की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसके अभिमतानुसार दिल्ली की संस्थापना संवत् ९०९ में हुई।[१] पट्टावली समुच्चय[२] में संवत् ७०३ में अनंगपाल तुअर द्वारा बसाने का उल्लेख है। कनिंघम[३] ने "दि आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया" ग्रन्थ में सन् ७३६ में अनंगपाल प्रथम के द्वारा दिल्ली बसाने का निर्देश किया है। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी[४] का मन्तव्य है तोमर वंशीय अनंगपाल प्रथम दिल्ली का मूल संस्थापक है। उसका राज्याभिषेक सन् ७३६ में हुआ और उसी ने सर्वप्रथम दिल्ली में राज्य किया। उसके पश्चात् उसके वंशज कन्नौज में चले गये और वे वहीं पर रहे। बहुत वर्षों के पश्चात् द्वितीय अनंगपाल दिल्ली में आया और उसने अपनी राजधानी दिल्ली बनायी। उसने नवीन नगर का निर्माण करवाया। नगर का कोट बनवाया। कुतुबमीनार के सन्निकट जो आज खण्डहरों का वैभव बिखरा पड़ा है उसे इतिहासकार द्वितीय अनंगपाल की राजधानी मानते हैं। उसके समय का शिलालेख भी मिलता है जिसमें संवत् ११०९ अनंगपाल वही का उल्लेख है। कुतुबमीनार के सन्निकट अनंगपाल के द्वारा बनाया गया एक मन्दिर है, उसके एक स्तम्भ पर अनंगपाल का नाम उत्कीर्ण किया हुआ है।[५] श्री जयचन्द्र विद्यालंकार[६] सन् १०५० में अनंगपाल नामक एक तोमर सरदार द्वारा दिल्ली की स्थापना का उल्लेख करते हैं और श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[७] का अभिमत है कि द्वितीय अनंगपाल ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिल्ली बसाई। यह अनंगपाल तोमरवंशीय क्षत्रिय था। संवत् १३८४ का एक शिलालेख[८] जो दिल्ली म्यूजियम में है, उसमें तोमर वंशियों के द्वारा दिल्ली बसाने का उल्लेख मिलता है। इसके पूर्व दिल्ली का नाम इन्द्रप्रस्थ था।

किसनदास ने अपनी कविता में दिल्ली नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि जमीन में लोहे की एक कीली लगायी गयी, किन्तु वह ढीली हो जाने से उसका नाम ढिल्ली हुआ।[९] फरिश्ता कहते हैं[१०] कि यहाँ मिट्टी इतनी मुलायम है कि इसमें मुश्किल से किल्ली मजबूत रह सकती है। अतः इसका नाम ढिल्लिका रखा गया। इसके योगिनीपुर, दिल्ली, देहली आदि नामों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

गणधर सार्धशतक[११] उपदेशसार[१२] खरतरगच्छ गुर्वावली[१३] विविध तीर्थकल्प[१४], तीर्थमाला[१५] प्रभृति अनेक ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि दिल्ली प्रारम्भ से ही जैनियों का प्रमुख केन्द्र रही है। यहाँ पर अनेक श्रेष्ठी लोग जैनधर्म के अनुयायी थे, श्रमण संस्कृति के उपासक थे।

देहली के ओसवाल वंशीय तातेर गोत्रीय सेठ देवीसिंहजी अपने युग के प्रसिद्ध व्यापारी थे। उनकी धर्म-पत्नी का नाम कमलादेवी था। पति और पत्नी दोनों समान स्वभाव के थे, सन्तों की संगति में विशेष अभिरुचि थी। जैन श्रमणों का जब कभी योग मिलता तो वे धर्मकथा श्रवण करने को पहुँचते थे, धर्मचर्चा में उन्हें विशेष रस था।

एक दिन कमला देवी अपनी उच्च अट्टालिका में सानन्द सो रही थी। शीतल मन्द सुगन्ध समीर आ रहा था। प्रातःकाल होने वाला ही था कि उसे एक स्वप्न आया कि आकाशमार्ग से एक अति सुन्दर और अमर भवन नीचे उतर रहा है और वह उसके मुँह में प्रवेश कर रहा है। स्वप्न को देखकर कमलादेवी उठकर बैठ गयी और उसने अपने पति देवीसिंहजी से स्वप्न की बात कही। देवीसिंहजी ने हर्षविभोर होकर कहा—सुभगे, तेरे भाग्यशाली पुत्र होगा। यथासमय आश्विन शुक्ला चतुर्दशी रविवार सवत् १७१९ में रात्रि के समय शुभ मुहूर्त और शुभबेला में पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र का नाम अमरसिंह रखा गया और वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। शैशवकाल में यह नाम माता-पिता को तृप्ति प्रदान करता था। श्रमण बनने पर आचार्य लालचन्दजी महाराज को तृप्ति देने लगा। आचार्य-जीवन में वह लाखों श्रद्धालुओं के लिए श्रद्धा का केन्द्र बन गया। यह नाम स्थानकवासी परम्परा के गौरव का प्रतीक है।

शिशु का वर्ण गौर था, तेजस्वी आँखें थीं, मुस्कुराता हुआ सौम्य चेहरा था और शरीर सर्वांग सुन्दर था। जिसे देखकर दर्शक आनन्दविभोर हो जाता था। अमरसिंह के जन्म लेते ही अपार संपत्ति की वृद्धि होने से और सुख-समृद्धि बढ़ने से पारिवारिक जन अत्यन्त प्रसन्न थे। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और पारिवारिक जनों का प्रेम उसे पर्याप्त रूप से मिला था। रूप और बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण सभी उसकी प्रशंसा करते थे। अमर संस्कारी बालक था। उसमें विचारशीलता, मधुरवाणी, व्यवहारकुशलता आदि सद्गुण अत्यधिक विकसित हुए थे। उसमें एक विशिष्ट गुण था, वह था चिन्तन करने का। वह अपने स्नेही-साथियों के साथ खेल-कूद भी करता था, नाचता-गाता भी था, हँसता-हँसाता भी था, रूठता-मचलता भी था, बाल-स्वभावसुलभ यह सब कुछ होने पर भी उसकी प्रकृति की एक अनूठी विशेषता थी कि सदा चिन्तन मनन करते रहना। योग्य वय होने पर उसे कलाचार्य के सन्निकट अध्ययन के लिए प्रेषित किया, किन्तु अद्भुत प्रतिभा के कारण अल्प समय में ही उसने अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं का उच्चतम अध्ययन कर लिया। आपकी प्रकृष्ट प्रतिभा को देखकर कलाचार्य भी मुग्ध हो गया। सस्कारों का वैभव दिन प्रतिदिन समृद्ध हो रहा था।

एक बार ज्योतिर्धर जैनाचार्य लालचन्दजी महाराज देहली पधारे। उनके उपदेशों की पावन गंगा प्रवाहित होने लगी। अमरसिंह भी अपने माता-पिता के साथ आचार्यप्रवर के प्रवचन में पहुँचा। प्रवचन को सुनकर उसके मन में वैराग्य भावना अंगड़ाइयाँ लेने लगी। उसे लगा कि संसार असार है। माता-पिता ने उसकी भाव-भंगिमा को देख-कर यह समझ लिया कि यह बालक कहीं साधना के मार्ग में प्रवेश न कर जाय। अतः उन्होंने देहली की एक सुप्रसिद्ध श्रेष्ठीपुत्री के साथ तेरह वर्ष की लघुवय में बालक अमर का पाणिग्रहण कर दिया गया। उस युग में बालविवाह की प्रथा थी। बाल्यकाल में ही बालक और बालिकाओं को विवाह के बन्धन में बाँध दिया जाता था; किन्तु उनका गार्हस्थिक सम्बन्ध तब तक नहीं होता था जब तक वे पूर्ण युवा नहीं हो जाते थे। विवाह होने के पश्चात् भी लड़की मायके में ही रहती थी। किशोर अमर को विवाह के बन्धन में बँधने पर भी उसके मन में किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं था। उसका अन्तर्मानस उस बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। किन्तु माता-पिता की अनुमति के वे बिना संयम साधना के महामार्ग पर नहीं बढ़ सकते थे। उन्होंने माता-पिता से निवेदन किया, किन्तु माता-पिता धर्म-प्रेमी होने पर भी पुत्र को मोह के कारण श्रामणी जीवन में देखना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—पुत्र, कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय तक तुम रुको। अतः माता-पिता के आग्रह को सम्मान देकर वे गृहस्थाश्रम में रहे। किन्तु उनका मन विषय-भोगों से उसी तरह उपरत था जैसे कीचड़ से कमल। इक्कीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में उन्होंने अपनी पत्नी को विषय-भोगों की निस्सारता और ब्रह्मचर्य की महत्ता समझाकर अ-ब्रह्मचर्य का त्याग करा दिया। वे अपने निश्चय पर चट्टान की तरह दृढ़ थे। माता की ममता, पिता का स्नेह, और पत्नी का उफनता हुआ मादक प्यार उन्हें अपने ध्येय से डिगा नहीं सका। एक दिन अवसर पाकर अपने मन की बात आचार्यप्रवर लालचन्दजी महाराज से कही—गुरुदेव, क्या आप मुझे अपने श्रीचरणों में शिष्य रूप से स्वीकार कर सकते हैं? गुरु ने शिष्य की योग्यता देखकर कहा—वत्स! मैं तुम्हें स्वीकार कर सकता हूँ, किन्तु माता-पिता और पत्नी की आज्ञा प्राप्त करनी होगी। उनसे अनुमति प्राप्त करना तुम्हारा काम है। गुरु की स्वीकृति प्राप्त करके अमरसिंह बहुत प्रसन्न हुए।

राही को राह मिल ही जाती है, यह संभव है देर-सबेर हो सकती है, किन्तु राह न मिले यह कभी संभव नहीं। अमरसिंह ने माता-पिता और पत्नी से स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं अब संसार में नहीं रहूँगा। मुझे साधु बनना है। माता ने आँसू बहाकर उसके वैराग्य को भुलाना चाहा। पिता ने भी कहा—पुत्र, तुम्हीं मेरी वृद्धावस्था के आधार हो, मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? पत्नी ने भी अपने मोह-पाश में बाँधने का प्रयास किया। किन्तु दृढ़ मनोबली अमरसिंह ने सभी को समझाकर आज्ञा प्राप्त कर ली और भरपूर युवावस्था में संवत् १७४१ में चैत्र कृष्णा दशमी को भागवती दीक्षा ग्रहण की। अब वे अमरसिंह से अमरसिंह मुनि हो गये।

अमरसिंह मुनि ने दीक्षा ग्रहण करते ही संयम और तप की साधना प्रारम्भ की। वे सदा जागरूक रहा करते थे, प्रतिपल-प्रतिक्षण संयम साधना का ध्यान रखते थे। विवेक से चलते, विवेक से उठते, विवेक से बैठते, विवेक से बोलते, प्रत्येक कार्य वे विवेक के प्रकाश में करते। संयम के साथ तप और जप की साधना करते, जैन आगम साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया। अपनी पैनी बुद्धि से, प्रखर प्रतिभा से और तर्कपूर्ण मेधाशक्ति से अल्प काल में ही आगम के साथ दर्शन, न्याय, व्याकरण, साहित्य का विशेष अध्ययन किया।

तप, संयम के साथ विशेष अध्ययन में परिपक्व होकर आचार्य श्री लालचन्दजी महाराज की आज्ञा से आपने धर्मप्रचार का कार्य आरम्भ किया। अपनी विमल-ज्ञान राशि को पंजाब और उत्तर प्रदेश के जन जीवन में महामेघ के समान हजार-हजार धाराओं में बरसाकर बिखेर दिया। अनेक स्थलों पर बलि-प्रथा के रूप में पशुहत्या प्रचलित थी, उसे बन्द करवाया। अन्धविश्वास और अज्ञानता के आधार पर फैले हुए वेश्यानृत्य, मृत्युभोज और जातिवाद का आपने दृढ़ता से उन्मूलन किया। श्रमणसंघ व श्रावकसंघ में आये हुए शिथिलाचार और भ्रष्टाचार पर आप केसरी सिंह की तरह झपटते थे। आपकी वाणी में ओज था, सत्य का तेज था और विवेक का विशुद्ध प्रकाश था। अतः जिस विषय पर आपश्री बोलते, साधिकार बोलते और सफलता देवी आपके चरण चूमने के लिए सदा लालायित रहती थी। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी इन छह भाषाओं पर आपने पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था और आप साधिकार छह भाषाओं में लेखन, भाषण कर सकते थे। आपने अनेक साधु-साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाओं को शास्त्रों का अध्यापन करवाया। आप मानवरूप में साक्षात् बहती हुई ज्ञान-गंगा थे। जिधर भी वह ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई उधर अध्ययन, मनन-चिन्तन के सूखे और उजड़े हुए खेत हरे-भरे हो गये।

अमरसिंहजी महाराज का आगम और दर्शनशास्त्र का ज्ञान बहुत ही गम्भीर था। आपके सम्बन्ध में लिखी हुई अनेक अनुश्रुतियाँ मुझे प्राचीन पन्नों में मिली हैं। एक बार आपश्री जम्मू में विराज रहे थे। श्रावक समुदाय आपके सन्निकट बैठा हुआ चर्चा कर रहा था। उस समय कुछ बहनें सुमधुर गीत गाती हुई जा रही थी। अमरसिंहजी महाराज कुछ समय तक रुक गये। वार्तालाप में प्रसंग में उन्होंने बताया गाने वाली बहनों में एक बहिन जिसका स्वर इस प्रकार का था उसका रंग श्याम है उसकी उम्र पच्चीस वर्ष की है और वह एक आँख से कानी है। महाराजश्री ने उस बहन को देखा नहीं था और न वह पूर्व परिचिता ही थी। अन्य बहनों के सम्बन्ध में भी उन्होंने वय, रंग और उम्र बतायी। लोगों को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने शीघ्र ही जाकर जाँच की तो उन्हें सत्य तथ्य का परिज्ञान हो गया। श्रावकों ने पूछा—गुरुदेव आपको कैसे पता लगा? आपश्री ने फरमाया स्थानाङ्ग, अनुयोगद्वार आदि आगम साहित्य में स्वरों का निरूपण है, उसी के आधार पर मैंने कहा है। उन्होंने केवल शास्त्र पढ़े ही नहीं थे किन्तु उन शास्त्रों को हृदयंगम भी किया था।

एक बार आपश्री लुधियाना विराज रहे थे। उस समय एक सज्जन घबराते हुए आये कि गुरुदेव शीघ्र ही मांगलिक फरमा दीजिये। मुझे आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना है। विलम्ब हो गया है। मुनि अमरसिंहजी ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा—क्यों शीघ्रता करते हो, एक सामायिक कर लो। किन्तु श्रावक के मन में दृढ़ता कहाँ थी ? उसने आपश्री के कथन की उपेक्षा की और बिना मांगलिक सुने ही चल दिया। मार्ग में सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और हथकड़ियाँ डालकर कारागृह में बन्द कर दिया। जब वह न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया गया तब न्यायाधीश ने कहा—मैंने इन सेठजी को नहीं किन्तु इनका नाम राशि जो स्वर्णकार है उसे बुलाया था। तुमने व्यर्थ ही सेठजी को परेशान किया। क्षमायाचना कर सेठजी को बिदा किया गया। तब सेठजी को ध्यान आया कि महाराजश्री की आज्ञा की अवहेलना करने का क्या परिणाम होता है।

एक बार आपश्री पटियाला विराज रहे थे। पटियाला सिक्खों का प्रमुख केन्द्र था। आपके प्रवचन में कुछ सिक्ख सरदार प्रतिदिन आया करते थे। मध्याह्न के समय एक सिक्ख सरदार आया। उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। चेहरा उदास था। आपश्री ने उसकी उदासी का कारण पूछा। उसने कहा—गुरुजी ! मेरे एक ही लड़का है। रात को वह बिल्कुल ठीक सोया था, पता नहीं उसकी नेत्र ज्योति कैसे गायब हो गयी। उसे कुछ भी नहीं दीखता है। अभी तो वह बच्चा ही है। मैंने हकीमों और वैद्यों को आँख बतायी। उन्होंने कहा कि अब रोशनी नहीं आ सकती। यह कहकर उसकी आँखें डबडबा गयीं, गला भर आया। महाराजश्री ने कहा—बताओ, तुम्हारा लड़का कहाँ है ? सरदार ने कहा—गुरुदेव ! मैं अभी जाकर उसे ले के आता हूँ। गुरुदेवश्री ने बच्चे को मंगल पाठ सुनाया कि लड़का पहले से भी अधिक स्पष्ट रूप से देखने लगा। सरदारजी चरणों में गिर पड़े, और उनकी हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे—अमरसिंहजी महाराज देवता ही नहीं साक्षात् भगवान हैं।

एक बार अमरसिंहजी महाराज रोहतक विराज रहे थे। उस समय एक युवक आया। वह पारिवारिक संक्लेशों से संत्रस्त था। वह आत्महत्या करने का संकल्प लेकर ही घर से चला था। किन्तु आपश्री के मधुर वार्तालाप से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि सदा के लिए उसने क्रोध का परित्याग कर दिया। उसका पारिवारिक जीवन जो विषम था, जिसमें रात-दिन क्रोध की चिनगारियाँ उछलती रहती थीं, आपश्री के सत्संग से उस परिवार में स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित होने लगी। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ आपके पंजाब प्रवास के समय की मिलती हैं जो विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखी जा रही हैं।

अमरसिंहजी महाराज प्रकाण्ड पण्डित, प्रभावक, प्रवचनकार और यशस्वी साधक थे। आपश्री को जैन-अजैन जनता में सर्वत्र एक दिव्य महापुरुष जैसा सत्कार, सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी तथापि आपश्री के अन्तर्मानस में गुरुवर्य के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्ति थी। उनके लिए आचार्य लालचन्दजी महाराज एक व्यक्ति नहीं किन्तु आदर्श थे। वे उनके प्रति समर्पित थे। समर्पण विनिमय के लिए नहीं होता, किन्तु जहाँ पर समर्पण होता है वहाँ विनिमय स्वतः ही हो जाता है। आचार्य लालचन्दजी महाराज के मन में अमरसिंहमुनिजी के प्रति पूर्ण विश्वास था। एक दिन किसी सन्त ने आचार्य लालचन्दजी महाराज से कहा कि अमरसिंहजी प्रतिलेखना सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। आचार्य लालचन्दजी महाराज ने बिना अमरसिंहजी को पूछे ही दृढ़ता के साथ कहा कि वह तुम्हारे से श्रेष्ठ करता है। विश्वास उसी का नाम है जिसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं होता।

अमरसिंह मुनिजी प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, आदि आचार्य लालचन्दजी महाराज के पास बैठ करके ही करते थे, अतः वे अमरसिंह मुनि की चर्या से पर्याप्त रूप से परिचित थे। उनके प्रति उनका आत्मीयभाव दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था। उनकी कृपा उन पर अत्यधिक थी।

मुनि अमरसिंहजी जितने महान् थे उतने ही विनम्र भी थे। आप पुष्पित फलित विराट वृक्ष के समान ज्यों-ज्यों यशस्वी, महान् और प्रख्यात हुए त्यों-त्यों अधिक विनम्र होते गये। गुरुजनों के प्रति ही नहीं लघुजनों के प्रति भी आपके हृदय में अपार प्रेम था। जब कभी भी लघु श्रमण भी रुग्ण होते तब आपश्री उनकी स्नेह से सेवा करते थे। अहंकार और ममकार के दुर्गुणों से आप कोसों दूर थे। आपश्री सद्गुरुदेव के साथ ही पंजाब के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर धर्म की प्रबल प्रभावना करते रहे। हजारों व्यक्ति आपके उपदेशों से प्रभावित होकर श्रावक बने और सम्यक्त्वरत्न को प्राप्त किया। बीस व्यक्तियों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण कर आपका शिष्यत्व स्वीकार किया।

संवत् १७६१ में आचार्यश्री लालचन्दजी महाराज का चातुर्मास अमृतसर में था। आचार्यश्री का स्वास्थ्य अस्वस्थ रहने लगा। उनके मन में स्वास्थ्य पूर्ण रूप से ठीक होने की सम्भावना क्षीण हो गई। उन्होंने इसी समय चतुर्विध संघ को बुलाकर उल्लास के क्षणों में अमरसिंह मुनि को युवाचार्य पद प्रदान किया। सभी ने आचार्यश्री की अनूठी सूझबूझ की प्रशंसा की। आचार्यश्री ने आलोचना व संलेखना कर संथारा ग्रहण किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साधना में समाधिपूर्ण जीवन का जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्व समाधिपूर्ण मृत्यु का है। समाधि पूर्ण मृत्यु को वरण करने वाले साधक को पूर्ण शान्ति और समाधि प्राप्त करनी होती है। आचार्यश्री ने सभी के साथ खमत्खामणा किये और कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन पन्द्रह दिन के संथारे के पश्चात् स्वर्गवासी हुए।

संघ ने युवाचार्य श्री अमरसिंहजी महाराज से सनम्र प्रार्थना की कि आपश्री आचार्य पद पर आसीन होकर हमें सनाथ करें। स्थान-स्थान से शिष्ट मण्डल अमृतसर पहुँचे और सभी ने अपने यहाँ आचार्य पद महोत्सव मनाने की प्रार्थना की। अन्त में देहली संघ की प्रार्थना को स्वीकार किया गया और आपश्री शिष्य समुदाय व सन्तों को लेकर देहली पधारे। संवत् १७६२ में चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन देहली में आचार्य पद महोत्सव मनाया गया। 'आचार्यश्री की जय' के सुमधुर घोष से वायुमण्डल गूंज उठा। समूचा संघ हर्ष से पुलकित हो उठा। आपश्री जैसे अनासक्त कर्मठ आचार्य को पाकर संघ धन्य हो गया।

आचार्यश्री अमरसिंहजी ने देहली संघ की प्रार्थना को सम्मान देकर देहली में इस वर्ष वर्षावास सम्पन्न किया, अत्यधिक धर्म की प्रभावना हुई। उसके पश्चात् पुनः आपश्री पंजाब संघ की प्रार्थना को संलक्ष्य में रखकर पंजाब पधारे और चार चातुर्मास पंजाब में करके पुनः संवत् १७६७ में देहली में चातुर्मासार्थ पधारे। पूज्यश्री का तेज प्रतिदिन बढ़ रहा था। उनके प्रवचनों में चुम्बकीय आकर्षण था।

चीनी भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ताओ उपनिषद में लिखा है कि हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नहीं होते और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास योग्य नहीं होते। जो वाणी हृदय की गहराई से निकलती है उसमें स्वाभाविकता होती है और सहजता होती है। जैसे कुएँ की गहराई से निकलने वाला पानी शीतल, निर्मल और ताजा होता है वैसे ही सहज वाणी भी प्रभावशाली होती है। जो उपदेश आत्मा से प्रस्फुटित होता है वह आत्मा का स्पर्श करता है, किन्तु जो जीभ से निकलता है उसमें चिन्तन, भावना और आचार का बल न होने से वह हृदय को स्पर्श नहीं कर सकता। हृदय से निकली हुई बात में बकवास नहीं होता किन्तु तीर-सी वेधकता होती है। आचार्य संघदासगणी ने अपने बृहत्-कल्पभाष्य में लिखा है कि गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी और पथ-प्रदर्शक होता है, किन्तु गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित दीपक की तरह निस्तेज और अन्धकार से परिपूर्ण होता है, आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के प्रवचनों में जीवन का गहरा चिन्तन था, मनन था, साथ ही अनुभवों का सुदृढ़ पृष्ठबल था। नदी की निर्मल धारा की तरह उसमें गति थी, प्रगति थी और जाज्वल्यमान अग्नि की तरह उसमें आचार और विचार का तेज था। उनके प्रवचनों में वासीपन नहीं, किन्तु विचारों, भावों और भाषा में ताजगी थी। यही कारण है कि जातिवाद, पंथवाद, और सम्प्रदायवाद को भूलकर हजारों की संख्या में हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख और जैनी प्रवचन-सभाओं में उपस्थित होते थे और आचार्यश्री के पावन प्रवचनों को सुनकर झूमने लगते थे। आचार्यश्री के प्रवचनों की धूम से देहली गूंज रहा था।

उस समय हिन्दुस्तान के बादशाह थे शाहनशाह बहादुरशाह।[१६] वे दक्षिण से अजमेर आये थे। बादशाह से किसी विशिष्ट कार्य के लिए मिलने हेतु जोधपुर के महामन्त्री खींवसी जी भण्डारी* अजमेर आये और शहजादा अजीम

---

* जिन व्यक्तियों से मारवाड़ का इतिहास गौरवान्वित हुआ है उन व्यक्तियों में भण्डारी खींवसी जी का स्थान मूर्धन्य है। वे सफल राजनीतिज्ञ थे। तत्कालीन मुगल सम्राट पर भी उनका अच्छा-खासा प्रभाव था। उस समय राजनीति संक्रान्ति के काल में गुजर रही थी। सम्राट औरंगजेब का निधन हो चुका था और उनके वंशजों के निर्बल हाथ शासन नीति को संचालन करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे थे। चारों ओर राजनीति के क्षेत्र में विषम स्थिति थी। उस समय जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह जी के प्रधानमन्त्री खींवसी भण्डारी थे। जब भी जोधपुर राज्य के सम्बन्ध में कोई भी प्रश्न उपस्थित होता तब वे बादशाह की सेवा में उपस्थित होकर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से गम्भीर समस्याओं का समाधान कर देते थे और शाहजादा मुहम्मद शाह को राज्यासीन कराने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही थी ऐसा फारसी तवारीखों से भी स्पष्ट होता है।

भण्डारी खींवसीजी सत्यप्रिय, निर्भीक वक्ता और स्वामीजी के परम भक्त थे। धर्म के प्रति भी उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। वे वि० सं० १७६६ में जोधपुर के दीवान बने और सं० १७७२ में वे सर्वोच्च प्रधान बने। फिर महाराजा अजीतसिंह के साथ मतभेद होने से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। पुनः महाराजा अजितसिंह के पुत्र महाराज अभयसिंह के राज्य गद्दी पर बैठने पर पुनः सं० १७८१ में सर्वोच्च प्रधान बने और स० १७८२ में मेडता में उनका देहान्त हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मारफत सन् १७६७ मे बादशाह से मुलाकात की। बादशाह भण्डारी जी को लेकर अजमेर से लाहौर होते हुए देहली पहुँचे। उस समय आचार्यप्रवर अमरसिंहजी महाराज के प्रवचन-कला की प्रशंसा भण्डारी खींवसी जी ने सुनी। वे पूज्यश्री के प्रवचन श्रवण हेतु पहुँचे। पूज्यश्री के प्रभावोत्पादक प्रवचनों को सुनकर खींवसीं जी अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने श्रावकधर्म को ग्रहण किया। वे प्रतिदिन नियमित रूप से प्रवचन श्रवण करने के लिए उपस्थित होते। विविध विषयों पर आचार्यप्रवर से वे विचार-चर्चा भी करते।

बादशाह बहादुरशाह की अनेक लड़कियाँ थीं। एक कन्या जो अविवाहिता थी वह गर्भवती हो गयी। जब बादशाह को यह सूचना प्राप्त हुई तब वे क्रोध से आग-बबूला हो उठे। उनकी आँखें क्रोध से अंगारे की तरह लाल हो गयीं। उन्होंने कहा—यह लड़की कुल को कलंक लगाने वाली है। शाही कुल में इस प्रकार की लड़कियों की आवश्यकता नहीं, मैं ऐसी लड़कियों का मुँह देखना भी पाप समझता हूँ। अतः इसे नंगी तलवार के झटके से खतम कर दो ताकि अन्य को भी ज्ञात हो सके कि दुराचार का सेवन कितना भयावह है। भण्डारी खींवसी ने जब बादशाह की यह आज्ञा सुनी तो वे काँप उठे। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—हुजूर, पहले गहराई से जाँच कीजिए, फिर इन्साफ कीजिए। किन्तु आवेश के कारण बादशाह ने एक भी बात न सुनी। खींवसी जी गिड़गिड़ाते रहे कि मनुष्य मात्र भूल का पात्र है, उसे एक बार क्षमा कर आप विराट् हृदय का परिचय दीजिए, किन्तु बादशाह किसी भी स्थिति में अपने हुकुम को पुनः वापिस लेना नहीं चाहता था। खींवसीजी भण्डारी कन्या को मौत के घाट उतारने की कल्पना से सिहर उठे। मनःशान्ति के लिए वे आचार्यश्री के पास पहुँचे। आचार्यश्री ने उनके उदास और खिन्न चेहरे को देखकर पूछा—भण्डारीजी ! आज आपका मुखकमल मुरझाया हुआ क्यों है ? आप जब भी मेरे पास आते हैं उस समय आपका चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला रहता है। भण्डारीजी अति गोपनीय राजकीय बात को आचार्यश्री से निवेदन करना नहीं चाहते थे। उन्होंने बात को टालने की दृष्टि से कहा—गुरुदेव ! शासन की गोपनीय बातें हैं। यह आपसे कैसे निवेदन करूँ। कई समस्याएँ आती हैं, जब उनका समाधान नहीं होता है तो मन जरा खिन्न हो जाता है।

आचार्यश्री ने एक क्षण चिन्तन किया और मुस्कराते हुए कहा—भण्डारीजी, आप भले ही मेरे से बात छिपायें, किन्तु मैं आपके अन्तर्मन की व्यथा समझ गया हूँ। बादशाह की क्वारी पुत्री को जो गर्भ रहा है और उसे मरवाने के लिए बादशाह ने आज्ञा प्रदान की है, उसी के कारण आपका मन म्लान है। क्या मेरा कथन सत्य है न ?'

अपने मन की बात आचार्यश्री कैसे जान गये यह बात भण्डारी जी के मन में आश्चर्य पैदा कर रही थी। उन्होंने निवेदन किया—भगवन्, आपको मेरे मन की बात का परिज्ञान कैसे हुआ ? आप तो अन्तर्यामी हैं। कृपा कर यह बताइये कि उस बालिका के प्राण किस प्रकार बच सकते हैं ?

आचार्यप्रवर ने कहा—भण्डारी जी, स्थानाङ्गसूत्र में[१७] स्त्री पुरुष का सहवास न करती हुई भी वह पाँच कारणों से गर्भ धारण करती है, ऐसा उल्लेख है। वे कारण हैं—

(१) अनावृत तथा दुनिषण्ण—पुरुष वीर्य से संसृष्ट स्थान को गुह्य प्रदेश से आक्रान्त कर बैठी हुई स्त्री के योनि-देश में शुक्र-पुद्गलों का आकर्षण होने पर,

(२) शुक्र-पुद्गलों से संसृष्ट वस्त्र के योनि-देश में अनुप्रविष्ट हो जाने पर,

(३) पुत्रार्थिनी होकर स्वयं अपने ही हाथों से शुक्र-पुद्गलों को योनि-देश में अनुप्रविष्ट कर देने पर,

(४) दूसरों के द्वारा शुक्र-पुद्गलों के योनि-देश में अनुप्रविष्ट किए जाने पर,

(५) नदी, तालाब आदि में स्नान करती हुई के योनि-देश में शुक्र-पुदगलों के अनुप्रविष्ट हो जाने पर।

इन पाँच कारणों से स्त्री पुरुष का सहवास न करती हुई भी गर्भ को धारण कर सकती है।

सारांश यह है कि पुरुष के वीर्य-पुद्गलों का स्त्री-योनि में समाविष्ट होने से गर्भ धारण करने की बात कही गयी है। बिना वीर्य पुदगलों के गर्भ धारण नहीं हो सकता। आधुनिक युग में कृत्रिम गर्भाधान की जो प्रणाली प्रचलित है इसके साथ इसकी तुलना की जा सकती है। सांड या पाड़े के वीर्य पुद्गलों को निकालकर रासायनिक विधि से सुरक्षित रखते हैं या गाय और भैंस की योनि से उसके शरीर में वे पुद्गल प्रवेश कराये जाते हैं और गर्भकाल पूर्ण होने पर उनके बच्चे उत्पन्न होते हैं। अमेरिका में 'टेस्ट-ट्यूब बेबीज' की शोध की गयी है। उसमें पुरुष के वीर्य-पुद्गलों को काँच की नली में उचित रासायनों के साथ रखा जाता है और उससे महिलाएँ कृत्रिम गर्भधारण करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम साहित्य में जहाँ पर स्त्रियाँ बैठी हों उस स्थान पर मुनि को और जहाँ पर पुरुष बैठे हों उस स्थान पर साध्वी को एक अन्तर्मुहूर्त तक नहीं बैठना चाहिए, जो उल्लेख है वह प्रस्तुत सूत्र के प्रथम कारण को लेकर ही है। इन पाँचों कारणों में कृत्रिम गर्भाधान का उल्लेख किया गया है। किसी विशिष्ट प्रणाली द्वारा शुक्र पुद्गलों का योनि में प्रवेश होने पर गर्भ की स्थिति बनती है जिसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है।

सुश्रुत संहिता में लिखा है[१४] कि जिस समय अत्यन्त कामातुर हुई दो महिलाएँ परस्पर संयोग करती हैं। उस समय परस्पर एक दूसरे की योनि में रजः प्रवेश करता है तब अस्थिरहित गर्भ समुत्पन्न होता है। जब ऋतुस्नान की हुई महिला स्वप्न में मैथुन क्रिया करती है तब वायु आर्तव को लेकर गर्भाशय में गर्भ उत्पन्न होता है और वह गर्भ प्रति मास बढ़ता रहता है तथा पैतृक गुण (हड्डी, मज्जा, केश, नख आदि) रहित मांस पिण्ड उत्पन्न होता है।

तन्दुल वैचारिक प्रकरण में गर्भ के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया गया है और कहा गया है जब स्त्री के ओज का संयोग होता है तब केवल आकाररहित मांसपिंड उत्पन्न होता है। स्थानांग[१५] के चौथे ठाणे में भी यह बात आयी है।

आचार्यश्री ने जब प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि बिना पुरुष के सहवास के भी रजोवती नारी कुछ कारणों से गर्भ धारण कर सकती है। बादशाह की पुत्री ने जो गर्भ धारण किया है, वह बिना पुरुष के संयोग के किया है ऐसा मेरा आत्मविश्वास कहता है। तुम बादशाह से कहकर उसके प्राण बचाने का प्रयास करो। यह सुनकर दीवान जी को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उनका मन-मयूर नाच उठा कि अब मैं बादशाह को समझाकर कन्या के प्राण बचा सकूंगा। और एक निरपराध कन्या के प्राणों की सुरक्षा हो सकेगी। उन्होंने आचार्यप्रवर को नमस्कार किया और मंगलिक श्रवण कर वे बादशाह बहादुरशाह के पास पहुँचे। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—हुजूर, कन्या कभी-कभी बिना पुरुष संयोग के भी गर्भ धारण कर लेती है और आपकी सुपुत्री ने जो गर्भ धारण कर लिया है वह इसी प्रकार का है, ऐसा मुझे एक अध्यात्मयोगी संत ने अपने आत्मज्ञान से बताया है। और उसकी परीक्षा यही है—जब बच्चा होगा तब उसके बाल नाखून हड्डी आदि पैतृक अंग नहीं होंगे और पानी के बुलबुले की तरह कुछ ही क्षणों में वह नष्ट हो जायगा। अतः उस अध्यात्मयोगी की बात को स्वीकार कर उस समय तक जब तक कि बच्चा न हो जाय तब तक उसे न मारा जाय। दीवान खींवसीजी की अद्भुत बात को सुनकर बादशाह आश्चर्यचकित हो गया—अरे! यह नयी बात तो आज मैंने सर्वप्रथम सुनी है। उस फकीर के कथन की सत्यता जानने के लिए हम तब तक उस बाला को नहीं मरवाएँगे जब तक उसका बच्चा पैदा नहीं हो जाता है।

बादशाह ने कन्या के चारों तरफ कड़क पहरा लगवा दिया ताकि वह कहीं भागकर न चली जाय। कुछ समय के पश्चात् बालिका के प्रसव हुआ। बादशाह और दीवान खींवसी उसे देखने के लिए पहुँचे। जैसा आचार्य प्रवर अमरसिंहजी महाराज ने कहा था वैसा ही पानी के बुलबुले की तरह पिण्ड को देखकर बादशाह विस्मय विमुग्ध हो गया। बादशाह और दीवान के देखते ही वह बुलबुला नष्ट हो गया। बादशाह ने दीवान की पीठ थपथपाते हुए कहा—अरे, बता ऐसा कौन योगी है, औलिया है जो इस प्रकार की बात बताता है? लगता है वह खुदा का सच्चा बन्दा है।

दीवानजी ने नम्रता के साथ निवेदन किया कि देहली में ही वर्षावास हेतु विराजे हुए ज्योतिर्धर जैनाचार्य पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज हैं जो बहुत ही प्रभावशाली हैं और महान् योगी हैं। उन्होंने ही मुझे यह बात बतायी थी। आप चाहें तो उनके पास चल सकते हैं। बादशाह अपने सामन्तों के साथ आचार्यश्री के दर्शनार्थ पहुंचा। आचार्य प्रवर ने अहिंसा का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण करते हुए कहा—जैनधर्म में अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ पर किसी भी प्राणी की हिंसा करना निषेध किया गया है। वैदिक और बौद्धधर्म में भी अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस्लामधर्म में भी अहिंसा का गहरा महत्त्व है। इस धर्म में ईश्वर में विश्वास रखने धर्म पन्थ प्रवर्तकों के विचारों पर आस्था रखने, गरीब और कमजोरों पर दयाभाव दिखाने की शिक्षा प्रदान की गई है। इस धर्म में गाली (abuse), क्रोध (anger), लोभ (avarice), चुगली खाना (back biting); खून-खराबी (blood-shedding), रिश्वत लेना (bribery); झूठा अभियोग (Calumny), बेईमानी (dishonesty), मदिरापान (drinking), ईर्ष्या (envy), चापलूसी (flattery), लालच (greed), पाखण्ड (hypocrisy), असत्य (lying), कृपणता (miserliness), अभिमान (pride), कलङ्क (slandering), आत्महत्या (suicide), अधिक ब्याज लेना (usury), हिंसा (violence), उच्छृखलता (Wickedness), युद्ध (warfare), हानिप्रद कर्म (wrongdoings), आदि को हमेशा ही त्याज्य समझा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ठीक इसके विपरीत भाईचारा (brotherhood), दान (charity), स्वच्छता (cleanliness), ब्रह्मचर्य (chastity), क्षमा (forgiveness), मैत्री (friendship), कृतज्ञता (gratitude), विनम्रता (humility), न्याय (Justice), दया (kindness), श्रम (labour), उदारता (liberlity), प्रेम (love), कृपा (mercy), संयम (moderation), सुशीलता (modesty), पड़ोसीपन का भाव (neighbourliness), हृदय की शुद्धता (purity of heart), सदाचार (righteousness), धैर्य(steadfastness), सत्य (truth), विश्वास (trust) को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।[२०]

इससे स्पष्ट है कि इस्लाम परम्परा में भी उन तत्त्वों की अवहेलना की गयी है जिससे हिंसा की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। कुरआन के प्रारम्भ में ही खुदा को उदार, दयावान कहकर संबोधित किया है।[२१] यहाँ तक कि पशुओं को कम भोजन देना, उन पर चढ़ना, सामान लादना आदि का भी इस्लामधर्म में विरोध किया गया है। वह वृक्षों को काटने के लिए भी नहीं कहता।[२२]

इसलामधर्म में कहा है—खुदा सारे जगत् (खल्क) का पिता है, जगत् में जितने भी प्राणी हैं वे खुदा के पुत्र (बन्दे) हैं। कुरान शरीफ सुरा उलमायाद सियारा मंजिल तीन आयत तीन में लिखा है—मक्का शरीफ की हद में कोई भी जानवर न मारे, यदि भूल से मार ले तो अपने घर के जो पालतू जानवर हैं उसे वहाँ पर छोड़ दें। मकका शरीफ की यात्रा को जाये तब से लेकर पुनः लौटने तक रोजा रखा जाय और गोश्त का इस्तेमाल न किया जाय। आगे चलकर सुरे अनयाम आयत १४२ में लिखा है कि सब्जी और अन्न को ही खाया जाय किन्तु गोश्त को नहीं—

"बमिल अनआमें हमूल तम्बू वफसद कुलुमिमा रजक कुमुल्ला हो।"

हजरत मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने[२३] कहा है—हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना अर्थात् पशु-पक्षियों को मारकर उनका भोजन मत कर। इसी तरह दीन-ए-इलाही के प्रवर्तक बादशाह अकबर ने भी कहा है—मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। जिसने किसी की जान बचायी तो मानो वह सारे इनसानों को जान बख्शी।[२४]

विश्व के समस्त धर्मों ने अहिंसा को स्वीकार किया है। वह धर्म का मूल आधार है। संसार में चारों ओर दुःख की जो ज्वालाएँ उठ रही हैं उसका मूल कारण हिंसक भावना है। अहिंसा भगवती है। भगवान महावीर ने कहा है जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। अतः अहिंसा के मर्म को समझा जाय। इस प्रकार अहिंसा पर आचार्यप्रवर ने गम्भीर विश्लेषण किया जिसे सुनकर बादशाह ने कहा—योगी प्रवर! मेरे योग्य सेवा हो तो फरमाइये। उत्तर में आचार्यश्री ने कहा हम जैन श्रमण है। अपने पास पैसा आदि नहीं रखते हैं और न किसी महिला का स्पर्श भी करते हैं। हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। यहाँ तक कि मुँह की गरम हवा से हवा के जीव न मर जायें इसलिए मुख पर मुखवस्त्रिका रखते हैं और रात्रि के अन्धकार में पैर के नीचे आकर कोई जन्तु खतम न हो जाय इसलिए रजोहरण रखते हैं। भारत के विविध अंचलों में पैदल घूमकर धर्म का प्रचार करते हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप किसी भी प्राणी को न मारें; गोश्त का उपयोग न करें—यही हमारी सबसे बड़ी सेवा होगी। बादशाह ने आचार्यश्री के आदेश को सहर्ष स्वीकार किया और नमस्कार कर अपने राजभवन में आ गया।

वर्षावास पूर्ण होने जा रहा था, आचार्यप्रवर के सम्पर्क से दीवान खींवसींहजी का जीवन ही धर्म में रंग गया था। उनके अन्तर्मानस में यह विचार उद्बुद्ध हो रहे थे कि यदि आचार्यश्री जोधपुर पधारें तो धर्म की अत्यधिक प्रभावना हो सकती है। जोधपुर राज्य की जनता धर्म के मर्म को भूलकर अज्ञान अन्धकार में भटक रही है। चैतन्योपासना को छोड़कर जडोपासना में दीवानी बन रही है। दीवान खींवसीं जी ने आचार्यप्रवर से निवेदन किया—भगवन्! कृपाकर आप एक बार जोधपुर पधारें। क्योंकि **"न धर्मो धार्मिकैंबिना।"**

आचार्यश्री ने कुछ चिन्तन के पश्चात् कहा—दीवानजी, आपका कथन सत्य है; मारवाड़ में धर्म का प्रचार बहुत ही आवश्यक है। किन्तु साम्प्रदायिक भावना का इतना प्राबल्य है कि वहाँ पर सन्तों का पहुँचना खतरे से खाली नहीं है। जिस प्रकार बाज पक्षियों पर झपटता है उसी प्रकार धर्मान्धि लोग सच्चे साधुओं पर झपटते हैं। मैंने यहाँ तक सुना है कि सम्प्रदायवाद के दीवानों ने इस प्रकार के सिद्धान्त का निर्माण किया है कि "चार सवाया पाँच" अर्थात् मक्खी चतुरिन्द्रिय है और जैन साधु पंचेन्द्रिय हैं उनको मारने में सवा मक्खी का पाप लगता है। इस प्रकार निकृष्ट कल्पना कर अनेकों साधुओं को मार दिया गया है। अतः ऐसे प्रदेश में विचरण करना खतरे से खाली नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीवान खींवसी जी विचार सागर में गोते लगाने लगे कि किस प्रकार आचार्यप्रवर को मारवाड़ में ले जाया जा सके। चिन्तन करते हुए उन्हें एक विचार आया और वे आचार्यप्रवर को नमस्कार कर बादशाह बहादुरशाह के पास पहुँचे। और विनम्र निवेदन करते हुए कहा—जहाँपनाह ! मैं आचार्यसम्राट श्री अमरसिंहजी महाराज को जोधपुर ले जाना चाहता हूँ। आपश्री जानते ही हैं जैन साधु किसी वाहन का उपयोग नहीं करते, वे पैदल चलते हैं। सम्प्रदायवाद के नशे में उन्मत्त बने हुए लोग इन साधुओं को भी अत्यधिक कष्ट देते हैं। उन्हें मार्ग में कोई कष्ट न हो, अतः आप शासन की ओर से ऐसा आज्ञा पत्र निकाल दें कि आचार्य अमरसिंहजी जो मारवाड में आ रहे हैं इन साधुओं को जो कष्ट देगा उनके साथ कड़क बर्ताव किया जायगा; खेतवाले का खेत, घर वाले का घर, गाँव वाले का गाँव और अधिकारियों का अधिकार छीन लिया जायगा। इस प्रकार बाईस ताम्रपत्रों पर आदेश लिखकर जोधपुर राज्य के बाईस परगनों में भिजवा दिये गये।

दीवान खींवसीह जी प्रसन्नमुद्रा में आचार्य प्रवर के पास आये और उनसे सनम्र निवेदन किया—भगवन् ! अब आप मारवाड़ में पधारें। आपको मारवाड़ में किसी भी प्रकार कष्ट नहीं होगा। मैंने शासन की ओर से आज्ञा पत्र सभी स्थानों पर भिजवा दिये हैं। आचार्यश्री ने दीवान खींवसी जी भण्डारी की स्नेहपूर्ण प्रार्थना को स्वीकार किया और वर्षावास के पश्चात् आचार्यप्रवर ने देहली से मारवाड़ की ओर बिहार किया। दीवानजी भी अपना कार्य पूर्ण कर चुके थे, अतः उन्होंने भी वहाँ से जोधपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

आचार्यश्री देहली से बिहार करते हुए अलवर पधारे। कुछ समय तक अलवर में विराज कर धर्म की प्रभावना की और वहाँ से जयपुर पधारे। पूज्यश्री के जयपुर पधारने पर जयपुर की भावुक जनता प्रति दिन हजारों की संख्या में प्रवचन सभा में उपस्थित होने लगी। पूज्यश्री ने अपने प्रवचन में अपरिग्रह का महत्व प्रतिपादन करते हुए कहा—जड़ वस्तुओं के अधिक संग्रह से मानव की आत्मा दब जाती है। उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। मानव चाहे जितने व्रत ग्रहण करे किन्तु संग्रहवृत्ति पर नियन्त्रण न रखे तो उसको सच्चे आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। धर्मरूपी कल्पवृक्ष को परिग्रहवृत्ति जलाकर नष्ट कर देती है। चिन्ता-शोक को बढ़ाने वाला, तृष्णारूपी विषवल्लरी को सींचने वाला, फूट-कपट का भण्डार और क्लेश का घर परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ है मन की ममता, व आसक्ति। जिनेश्वरदेव ने वस्तु के प्रति रहे ममत्व-भाव को परिग्रह कहा है—

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।"[२५]

विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं है।[२६] इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है।[२७] विश्व के पदार्थ ससीम हैं, किन्तु इच्छाएं असीम हैं, अतः कामनाओं का अन्त करना ही दुःख का अन्त करना है।[२८] प्रमत्तपुरुष धन के द्वारा न इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता, न परलोक में।[२९]

पूज्यश्री के अ-परिग्रह के विश्लेषण को सुनकर रंगलालजी पटवा जो बहुत ही गरीब थे, उन्होंने निवेदन किया—भगवन्, मुझे पाँच हजार से अधिक परिग्रह न रखना है इसकी मर्यादा करवा दीजिए। आचार्यश्री ने रंगलाल जी के चेहरे की ओर देखकर कहा—नियम ग्रहण करने के पूर्व तुम्हें यह अच्छी तरह से सोच लेना चाहिए कि नियम भंग न हो। बाद में विचार करने की स्थिति पैदा न हो।

रंगलाल जी पटवा ने निवेदन किया—भगवन्, मेरे पास पाँच सौ से अधिक पूँजी ही नहीं है। मेरी आर्थिक स्थिति बड़ी नाजुक है। बड़ी कठिनता से मैं अपने परिवार का भरण-पोषण करता हूँ तथापि तृष्णा के वशीभूत होकर पाँच हजार की मर्यादा करना चाहता हूँ। और आपश्री मुझे पुनः चिन्तन के लिए फरमा रहे हैं। आचार्य श्री ने कहा—क्या नीति की कहावत तुम्हें स्मरण नहीं है ? **"स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः"** अतः मैं जो कह रहा हूँ वह सोच-विचार कह रहा हूँ। रंगलालजी ने सोचा कि आचार्यप्रवर जो कुछ कह रहे हैं इसमें गम्भीर रहस्य होना चाहिए। उन्होने बीस हजार की मर्यादा के लिए कहा तब भी आचार्यश्री ने वही बात दुहराई। रंगलालजी ने अन्त में पच्चीस लाख की मर्यादा की। आचार्यप्रवर ने कुछ दिनों तक जयपुर विराज कर किसनगढ़ की ओर प्रस्थान किया। किसनगढ़ से अजमेर होते हुए आचार्यश्री सोजत पधारे। सम्प्रदायवाद के अधिनायक यतिगण चिंतित हो गये कि यहाँ शुद्ध स्थानकवासी धर्म का प्रचार हो जायेगा तो हमारी दयनीय स्थिति बन जायगी। अतः उन्होंने अपने भक्तों को बुलाकर कहा कि कोई ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। यदि हम मारने का प्रयास करेंगे तो शासन की आज्ञा की अवहेलना होने से हमारी स्थिति विषम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती है। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे हमें किसी भी प्रकार के कष्ट का सामना न करना पड़े। चिन्तन के पश्चात् यह नवनीत निकाला गया कि आने वाले आचार्यश्री को कोट के मुहल्ले में स्थित जो मसजिद है वहाँ पर ठहराया जाय क्योंकि वहाँ पर एक मुसलमान मरकर जिन्द हुआ है, वह रात्रि में किसी को अपने वहाँ रहने नहीं देता है। जो रात्रि में वहाँ रहते हैं वे स्वतः ही काल-कवलित हो जाते हैं।

यति-भक्तों ने आचार्यश्री को पूर्व योजनानुसार इस मसजिद में ठहरने के लिए आग्रह किया और कहा कि इस मकान के अतिरिक्त कोई अन्य मकान खाली नहीं है। आचार्यश्री वहाँ ठहर गये। आचार्यश्री का शिष्य समुदाय भी अत्यन्त विनम्र था जो उनके इंगित पर प्राण न्योछावर करने के लिए सदा तैयार रहता था। उनके चुम्बकीय आकर्षण से शिष्यों का हृदय उनके प्रति नत था। आचार्यश्री ने मकान की स्थिति को देखकर अपने सभी शिष्यों को सूचित किया कि वे घबराये नहीं। परीक्षा सोने की होती है, उसे आग में डाला जाता है, तभी उसमें अधिक चमक और दमक आती है। हीरे को सान पर घिसा जाता है, ज्यों-ज्यों घिसा जाता है त्यों-त्यों वह चमकता है। मिट्टी के ढेले को जमीन पर डाला जाय तो वह उछलता नहीं, किन्तु गेंद जमीन पर नीचे डालते ही वह और अधिक तेज उछलती है। जिनके जीवन में तेज नहीं होता वे मिट्टी के ढेले की तरह होते हैं। परन्तु जिनमें तेज होता है वे गेंद की तरह प्रगति करते हैं। अतः तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है, कष्ट तुम्हारे जीवन को निखारने के लिए है। उनका हँसते और मुसकराते हुए मुकाबला करना है। सभी शिष्यों ने आचार्यश्री के उद्‌बोधक संदेश को सुना और उनमें दुगुना उत्साह संचरित हो गया।

रात्रि का गहन अन्धेरा मंडराने लगा। जिन्द ने अपने स्थान पर विचित्र व्यक्तियों को ठहरे हुए देखा तो क्रोध से उन्मत होकर विविध उपसर्ग देने लगा। किन्तु आचार्यश्री के आध्यात्मिक तेज के सामने वह हतप्रभ हो गया, उसकी शक्ति कुण्ठित हो गयी। आचार्य भद्रबाहु विरचित महान् चमत्कारी "उवसग्गहरं स्तोत्र" को सुनकर वह आचार्यश्री के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध की क्षमायाचना करने लगा—भगवन्! मुझे ज्ञात नहीं था कि आप इतने महान् हैं। आपके आध्यात्मिक तेज के सामने मेरी दानवी वृत्ति आज नष्ट हो गयी है। आज मेरा क्रोध क्षमा के रूप में बदल गया है। मैंने आज एक सच्चे व अच्छे सन्त के दर्शन किये हैं। मैं आपसे सनम्र प्रार्थना कर रहा हूँ कि यह स्थान अब सदा के लिए जैन साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाओं के ही धार्मिक साधना के लिए उपयोग में लिया जायेगा। मैं स्थानीय मौलवी के शरीर में प्रवेश कर यह स्थान जैनियों को दिलवा दूँगा। आचार्यश्री मौन रहकर जिन्द की बात को सुनते रहे। प्रातः होने पर यति भक्तगण इस विचारधारा को लेकर पहुँचे कि सभी साधुगण मर चुके होंगे। पर ज्यों ही उन्होंने सभी सन्तों को प्रसन्नमुद्रा में देखा तो उनके देवता ही कूँच कर गये। जिन्द ने मौलवी के शरीर में प्रवेशकर मसजिद को जैन स्थानक बनाने के लिए उद्‌घोषणा की। और सर्वत्र अपूर्व प्रसन्नता का वातावरण छा गया। जैनधर्म की प्रबल प्रभावना हुई। दो सौ पचास घर जो ओसवाल थे उन्होंने पूज्य श्री के उपदेश से स्थानकवासी धर्म को स्वीकार किया और वर्तमान में नवीन कोट मुहल्ले में जो स्थानक है वही स्थानक पहले मसजिद का स्थानक था और उसी स्थान पर कुछ वर्षों पूर्व नवीन स्थानक का निर्माण किया गया है।

आचार्यश्री ने सोजत में स्थानकवासी धर्म का प्रचार कर पाली की ओर प्रस्थान किया। पाली के श्रद्धालु लोगों का मानस उसी तरह नाचने लगा जिस तरह उमड़-घुमड़ कर घटाओं को देखकर मोर नाचता है। आचार्यश्री के प्रभावोत्पादक प्रवचनों में जनता का प्रवाह उमड़ रहा था। यतिगण देखकर उसी तरह घबरा रहे थे जिस तरह शृगाल सिंह को देखकर घबराता है। उन्होंने विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे अमरसिंहजी का नदी की बाढ़ की तरह बढ़ता हुआ प्रभाव रुक जाय। गम्भीर विचार विनिमय के पश्चात् शास्त्रार्थ की आचार्यश्री को चुनौती दी। उन्हें यह अभिमान था कि आचार्यश्री में ज्ञान का अभाव है, वे तो केवल आचारनिष्ठ ही हैं। किन्तु जब शास्त्रार्थ के लिए आचार्यश्री तैयार हो गये तो यति समुदाय की ओर से बीकानेर से विमलविजयजी, जोधपुर से ज्ञान विजयजी, मेडता से प्रभाविजयजी और नागोर से जिनविजयजी ये चार मेधावी यति शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित हुए। विविध विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ। आचार्यश्री ने जब मुखवस्त्रिका का प्रश्न आया तब कहा कि—आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर मुखवस्त्रिका का उल्लेख है। उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी विभाग में बताया गया है कि "**मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं।**"[१०] अर्थात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करें। निशीथ भाष्य[११] में जिनकल्पिक श्रमणों का उल्लेख है वहाँ पर पाणिपात्र और पात्रधारी ये दो भेद किये हैं। दोनों ही प्रकार के श्रमण कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपधि रखते हैं। जिनकल्पिक श्रमणों के लिए भी मुखवस्त्रिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रजोहरण ये दो आवश्यक हैं, अन्य उपकरण चाहे हो या न हो। फिर स्थविरकल्पिकों के लिए तो मुखवस्त्रिका अनिवार्य है।

भगवती सूत्र में[३२] स्पष्ट कहा है कि जब खुले मुँह बोला जाता है तब सावद्य भाषा होती है।

महानिशीथ जिसे स्थानकवासी परम्परा प्रमाणभूत आगम नहीं मानती है उसमें यह विधान है कान में डाली गयी मुँहपत्ती के बिना या सर्वथा मुँहपत्ती के बिना इरियावही क्रिया करने पर साधु को **मिच्छामि दुक्कडं** या दो पोरसी का (पूर्वार्द्ध) दण्ड आता है।[३३]

योगशास्त्र[३४] में भी कहा है मुख से निकलने वाले उष्ण श्वास से वायु काय के जीवों की तो विराधना होती है किन्तु त्रस जीवों के मुख में प्रवेश की भी सम्भावना सदा रहती है तथा अकस्मात् आयी हुई खाँसी, छींक आदि से थूंक शास्त्रों या कपड़ों पर गिरने की सम्भावना रहती है, अतः मुखवस्त्रिका इन सभी का समीचीन उपाय हैं।

आगम साहित्य में यत्र-तत्र मुखवस्त्रिका मुँह पर बाँधने का विधान प्राप्त होता है। जैसे ज्ञातासूत्र[३५] में तेतली प्रधान को उसकी धर्मपत्नी अप्रिय हो गयी। तो वह दान आदि देकर समय व्यतीत करने लगी। उस समय तेतलीपुर में महासती सुव्रताजी का आगमन हुआ। वे भिक्षा के लिए तेतली प्रधान के घर पर पहुँची, तब तेतली प्रधान की अप्रिय पत्नी पोट्टिला ने साध्वीजी को आहारदान दिया और उसके पश्चात् उसने साध्वीजी से पूछा—आप अनेकों नगरों में परिभ्रमण करती हैं कहीं पर ऐसी जड़ी-बूटी या वशीकरण आदि मन्त्र के उपाय देखे हों तो बताने का अनुग्रह कीजिए जिससे मैं पुनः अपने पति की हृदयहार बन जाऊँ। यह सुनते ही महासतीजी ने अपने दोनों कानों में दोनों हाथों की अंगुलियाँ डाल दीं और कहा—भो देवानुप्रिये ! हमें इस प्रकार के शब्द कानों से सुनना भी नहीं कल्पता। फिर ऐसा मार्ग बताना तो दूर रहा। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि साध्वीजी के मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधी हुई होनी चाहिए नहीं तो दोनों हाथ दोनों कानों में डालकर खुले मुँह कैसे बोलती ? निरयावलिका[३६] में उल्लेख है सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुँहपत्ती मुँह पर बाँधी थी। वैदिक परम्परा के संन्यासियों में मुँह पर काष्ठ की पट्टी बाँधने का विधान अन्यत्र देखने में नहीं आया है। इससे यह सिद्ध होता है जैन श्रमण मुँहपत्ती बाँधते थे और उसी का अनुसरण सोमिल ने काष्ठ पट्टी बाँध कर किया हो।

भगवती में[३७] जमाली के दीक्षा ग्रहण करने के प्रसंग में नाई का उल्लेख है, उसने भी आठ परतवाली मुँह-पत्ती मुँह पर बाँधी थी।

शिवपुराण ज्ञानसंहिता में[३८] जैन श्रमण का लक्षण बताते हुए कहा है—हाथ में काष्ठ के पात्र धारण करने वाले, मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधने वाले, मलिन वस्त्र वाले, अल्पभाषी ही जैन मुनि हैं। उसमें यह भी बताया गया है कि इस प्रकार के जैन श्रमण ऋषभावतार के समय में भी थे।

श्रीमाल पुराण में[३९] मुँह पर मुँहपत्ती धारण करने वाले जैन श्रमणों का वर्णन है। साथ ही भुवन भानुकेवली चरित्र, हरिबल मच्छीनुं रास, अवतारचरित्र, सम्यक्तमूल बारहव्रत की टीप, हितशिक्षानुंरास, जैनरत्नकथाकोश, ओघ निर्युक्ति आदि में मुखवस्त्रिका का वर्णन है।

आचार्यप्रवर के अकाट्य तर्कों से यति समुदाय परास्त हो गया। वह उत्तर न दे सका। और वहाँ से वे लौट गये। स्थानकवासीधर्म की पाली में प्रबल प्रभावना हुई। वहाँ से आचार्यप्रवर ने जोधपुर की ओर प्रस्थान किया। जब आचार्यश्री जोधपुर पधारे उस समय दीवान खींवसीजी भण्डारी ने आचार्यश्री का हृदय से स्वागत किया और आचार्यप्रवर को तलहटी के महल में ठहरा दिया। राजकीय कार्य से खींवसीजी बाहर चले गये, तब यतिभक्तों ने सोचा कि किसी तरह से अमरसिंहजी महाराज को खत्म करना चाहिए।

यतिभक्तों ने सोचा कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे आचार्यश्री सदा के लिए खत्म हो जायें। जोधपुर में आसोप ठाकुर साहब की एक हवेली है जहाँ पर ठाकुर राजसिंह जोधपुरनरेश के बदले में जहर का प्याला पीकर मरे थे। वे व्यन्तर देव बने थे, वे रात्रि में अपनी हवेली में किसी को भी नहीं रहने देते थे। यदि कोई भूल से रह जाता तो उसे वे मार देते थे। अतः यतिभक्तों ने सोचा कि ऐसे स्थान पर यदि आचार्य अमरसिंहजी को ठहरा दिया जाय तो वे बिना प्रयास के समाप्त हो जायेंगे। उन्होंने महाराज अजितसिंह से प्रार्थना की—राजन् ! आप जिस महल के नीचे होकर परिभ्रमण करने के लिए जाते हैं, उस महल के ऊपर अमरसिंहजी साधु बैठे रहते हैं। वे आपको नमस्कार भी नहीं करते। हमसे आपका यह अपमान देखा नहीं जाता। राजा ने कहा—साधु फक्कड़ होते हैं। वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कार नहीं करते तो कोई बात नहीं। यतिभक्तों ने मुँह मटकाते हुए कहा—राजन्! आप बड़े हैं, पृथ्वीपति हैं, आपको तो नमस्कार करना ही चाहिए। यदि आपश्री को कोई एतराज न हो तो हम आचार्यश्री को दूसरा बहुत ही बढ़िया स्थान बता देंगे। दरबार ने कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। यतिभक्त आचार्यश्री के पास आये और कहा कि महाराजा साहब ने आपको आज्ञा प्रदान की है, अतः आप दूसरे मकान में पधारिये। जहाँ पर आपको ठहरने की योग्य व्यवस्था की गई है। आचार्यप्रवर अपने शिष्यों के साथ चल दिये। यतिभक्तों ने पूर्व योजनानुसार आसोप ठाकुर साहब की हवेली उन्हें ठहरने के लिए बता दी। आचार्यश्री आज्ञा लेकर वहाँ पर ठहर गये।

रात्रि का झुरमुट अँधेरा होने लगा। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने शिष्यों को सावधान कर दिया कि आज की रात्रि में भयंकर उपसर्ग उपस्थित हो सकते हैं, अतः तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है। सभी ध्यान-साधना में दत्तचित्त हो लग जाओ जिससे कोई भी बाल बाँका न कर सकें। आचार्यश्री जानते थे कि ध्यान में वह अपूर्व बल है जिससे दानवी शक्ति परास्त हो जाती है।

रात्रि का गहन अँधेरा धीरे-धीरे छा रहा था। रात्रि के गहन अन्धकार में दानवी शक्ति का जोर बढ़ता है। ज्यों ही अँधेरे ने अपना साम्राज्य स्थापित किया त्यों ही आसुरी शक्ति प्रकट हुई। उसने मानवाकृति में आकर सर्वप्रथम हवेली को परिष्कृत किया और सुगन्धित द्रव्यों से चारों ओर मधुर सुगन्ध का संचार कर दिया। उसके पश्चात् राजसिंहजी का जीव जो व्यन्तर देव बना था, वह अपने असुर परिजनों के साथ उपस्थित हुआ। वह सिंहासन पर बैठा किन्तु उसे मानव की दुर्गन्ध सताने लगी। अरे, आज इस हवेली में कौन मानव ठहरे हैं? लगता है मौत ने इनको निमन्त्रण दिया है। इन्हें मेरी दिव्य-दैवी शक्ति का भान नहीं है। मैं अभी इन्हें बता दूँगा कि मेरे में कितनी असीम शक्ति है। विकराल रूप बनाकर वह आचार्यश्री के चरणों में पहुँचा और साँप, बिच्छू, शेर, चीते आदि विविध रूप बनाकर आचार्यश्री को संत्रस्त करने का प्रयास करने लगा। जब आध्यात्मिक शक्ति के सामने दानवी शक्ति का बल कम हो गया, तब उसने क्रोध में आकर जिस पट्टे पर आचार्यश्री विराजमान थे उसका एक पाया तोड़ दिया और देखने लगा अब नीचे गिरे, अब नीचे गिरे। किन्तु पूज्यश्री ध्यान में इतने तल्लीन थे कि वे तीन पाये वाले पट्टे पर पूर्ववत् ही बैठे रहे। दानवी शक्ति यह देखकर हैरान थी—क्या जादू है इनके पास। ये तीन पाये पर ही बैठे हुए हैं। अन्त में हारकर उसने कहा—अभी रात में ही यहाँ से निकल जाओ, नहीं तो तुम्हें भस्म कर दूँगा। पूज्यश्री मौन रहे। तो उसने कहा—रात में नहीं जाते हो तो कोई बात नहीं, कल सुबह ही यहाँ से चले जाना। अन्यथा मैं सभी को मौत के घाट उतार दूँगा। दानवी शक्ति अन्त में हारकर अपने स्थान पर जाकर बैठ गयी। आचार्यश्री ने ध्यान से निवृत्त होकर जैनागमों में से संग्रहीत अर्ध-मागधी भाषा में भानुद्वार को उच्च स्वर से सुनाया। दानवी शक्ति ने जब सुना तब उसके आश्चर्य का पार न रहा—अरे यह तो कोई विशिष्ट व्यक्ति है, इसे कोई विशेष ज्ञान है जिसके कारण इसे हमारी, अवगाहना, स्थिति, भवन और अन्य ऋद्धियों का परिज्ञान है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारा ही नहीं हमारे से भी बढ़कर जो देव हैं उनके सम्बन्ध में भी ये अच्छी तरह से जानते हैं। जिन चीजों को हम नहीं जानते उन चीजों को ये जानते हैं। बड़े अद्भुत हैं ये व्यक्ति। दानवी शक्ति अपने स्थान से उठकर आचार्यश्री के श्री चरणों में पहुँची और उसने नम्र शब्दों में निवेदन किया—भगवन्! मैं आपको समझ नहीं सका। आप तो महान् हैं। हमारे से अधिक ज्ञानी हैं। हमें जिन बातों का परिज्ञान नहीं है, वे बातें भी आप जानते हैं। बताइये आपको कौन सा ज्ञान है?

आचार्यश्री ने मधुर मुसकान बिखरते हुए कहा—मेरे में कोई विशेष ज्ञान नहीं है। मैं जो बात कह रहा हूँ वह बात श्रमण भगवान महावीर ने अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कही है। हम उन्हीं की वाणी को दुहरा रहे हैं। यह आगम वाणी है जिसमें अनेक अपूर्व बातें हैं यदि आप सुनेंगे तो ताज्जुब करेंगे।

दानवी शक्ति ने विनत होते हुए कहा—हम आपकी यह स्वाध्याय प्रतिदिन सुनना चाहते हैं। क्या आप हमें यह स्वाध्याय सुनायेंगे?

आचार्यप्रवर ने कहा—तुम्हारे कहने से हमें कल यहाँ से प्रस्थान करना है। फिर तुम्हें किस प्रकार स्वाध्याय सुना सकेंगे।

दानवी शक्ति ने कहा—भगवन्! आप यहाँ रह सकते हैं, किन्तु अपने शिष्य आदि को मत रखिये।

आचार्यश्री ने कहा—कहीं सूर्य और उसका प्रकाश पृथक् रह सकता है? नहीं। वैसे ही गुरु और शिष्य कैसे पृथक् रह सकते हैं। ये तो देह की छाया की तरह सदा साथ में ही रहते हैं। उनका नाम ही अन्तेवासी ठहरा।

दानवी शक्ति ने कहा—आप अपने शिष्यों सहित यहाँ पर प्रसन्नता के साथ रह सकते हैं, किन्तु अन्य व्यक्तियों को यहाँ आने न दीजिएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यश्री—जहाँ हम ठहरे हुए हैं वहाँ उपदेश श्रवण करने के लिए लोग आयेंगे ही। हम उन्हें कैसे इन्कार कर सकते हैं ?

दानवी शक्ति—अच्छा, तो ऐसा कीजिएगा पुरुषों को आने दीजिएगा, किन्तु महिलाओं को यहाँ आने का निषेध कर दीजिएगा।

आचार्यश्री—आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में पुरुष और महिलाओं का भेद नहीं किया जाता। जिस प्रकार पुरुष आध्यात्मिक साधना करता है उसीप्रकार महिलाएँ भी साधनाएँ कर सकती हैं। पुरुषों से भी महिलाओं का हृदय अधिक भावुक होता है। वे साधना के मार्ग में सदा आगे रहती हैं। अतः उन्हें आध्यात्मिक साधना से वंचित करना हमारे लिए कैसे उचित है ? हम जहाँ रहेंगे वहाँ पर रात्रि में नहीं, किन्तु दिन में उपदेश-श्रवण हेतु पुरुषों के साथ महिलाएँ भी आयेंगी।

दानवी शक्ति ने कहा—आपका कथन सत्य है, किन्तु ऐसा करें कि जिन महिलाओं को नहीं आना है, उन्हें न आने देवें।

आचार्यश्री ने कहा—मैं स्वयं भी नहीं चाहता हूँ कि वे महिलाएँ यहाँ आवें, किन्तु हम किन्हें पूछने जायेंगे कि तुम्हें आना है या नहीं आना है ?

दानवी शक्ति ने कहा—आप ऐसा कीजिए कि मेरा यह जो स्थान विशेष है वहाँ पर कोई महिला नहीं आने पावे, अतः अपना पट्टा यहाँ पर ले लेवें।

आचार्यश्री ने कहा—आपका यह कथन उचित है। हम आपके स्थान पर पट्टा ले लेंगे किन्तु पट्टे को तो आपने पहले से ही तोड़ रखा है। अतः इसे पहले आप ठीक कीजिए।

दानवी शक्ति ने उसी समय पट्टे को ठीक कर दिया और आचार्यश्री से प्रार्थना की कि आप आनन्द से यहाँ विराजिए और अत्यधिक धर्म की प्रभावना कीजिए। आपको यहाँ विराजने पर किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। दानवी शक्ति आचार्यप्रवर को नमस्कार कर और अपने अपराधों की क्षमा-याचना कर वहाँ से विदा हो गयी।

प्रातः होने पर ज्यों ही सहस्ररश्मि सूर्य का उदय हुआ यतिभक्त इसी विचार से आसोप ठाकुर की हवेली में पहुँचे कि आचार्य अमरसिंहजी अपने शिष्यों सहित समाप्त हो गये होंगे। किन्तु आचार्यप्रवर व अन्य सन्तों को प्रसन्नमुद्रा में स्वाध्याय-ध्यान आदि करते हुए देखा तो उनके आश्चर्य का पार न रहा। एक दूसरे को देखकर परस्पर कहने लगे कि दानवी शक्ति तो इतनी जबरदस्त थी कि किसी की भी शक्ति नहीं थी जो इससे जूझ सके। इस दानवी शक्ति ने तो अनेकों को खतम कर दिये थे। पता नहीं इनके पास ऐसी कौनसी विशिष्ट शक्ति है जिससे इतनी महान् शक्ति भी इनके सामने परास्त हो गयी। लगता है यह कोई महान् योगी है। इसके चेहरे पर ही अपूर्व तेज झलक रहा है। आँखों से अमृत बरस रहा है। हमें इनके पास अवश्य चलना चाहिए और इनसे धर्म का मर्म भी समझ लेना चाहिए।

आचार्यश्री की यशःसौरभ जोधपुर में फैल गयी। भौंरों की तरह भक्त मंडलियाँ मंडराने लगीं। हजारों लोग आचार्यश्री के दर्शन के लिए उपस्थित हुए। आचार्यप्रवर ने जिज्ञासु श्रोताओं को देखकर अपना प्रवचन प्रारम्भ किया। आचार्यश्री ने कहा—जैन संस्कृति का मूल आधार है त्याग, तपस्या और वैराग्य। उसने जितना बाह्य शुद्धता पर बल दिया है उससे भी अधिक, अन्तर्मन की पवित्रता को महत्व दिया है। यह संस्कृति भोगवादी नहीं; त्याग, तपस्या, वैराग्य की संस्कृति है। इस संस्कृति के मूल में भोग नहीं त्याग है। भोगवाद पर त्यागवाद की विजय है, तन पर मन का जयघोष, वासना पर संयम का जयनाद।

मधुर मुसकान के साथ आचार्यश्री के भाषणों ने जन-मन-नयन को चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लिया। आचार्यश्री के भावों में गाम्भीर्य था, उनकी शैली में ओज था, शैली बड़ी सुहावनी थी, जो नदी के प्रवाह की तरह अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर बढ़ती थी। उनके सांस्कृतिक प्रवचनों में जैन संस्कृति की आत्मा बोलती थी। आचार्यश्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर हजारों जन जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुए।

भण्डारी खींवसीजी जो बाहर गये हुए थे, वे लौटकर पुनः जोधपुर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि आचार्यप्रवर को भयंकर उपद्रवकारी स्थान में उतारा गया है। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा—भगवन् ! किस दुष्ट ने आपको यहाँ पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठहराया है ? मैंने तो आपको महलों में ठहराया था। आपको यहाँ पर बहुत ही कष्ट हुए होंगे। कृपया मुझे नाम बताइये जिससे उस दुष्ट को दण्ड दिया जा सके। आचार्यश्री ने कहा—जिसने मुझे यहाँ पर ठहराया उसने मेरे पर महान् उपकार किया है। यदि वह मुझे न ठहराता तो मैं उतना कार्य नहीं कर पाता, वर्षों तक प्रयत्न करने पर जितना प्रचार नहीं हो सकता था, उतना प्रचार यहाँ ठहराने से एक ही दिन में हो गया। वह तो हमारा बहुत बड़ा उपकारी है, उसे दण्ड नहीं किन्तु पुरस्कार देना चाहिए जिसके कारण हम इतनी धर्म की प्रभावना कर सके। आचार्यश्री की उदात्त भावना को देखकर दीवान खींवसीजी चरणों में गिर पड़े—भगवन् ! आप तो महान् हैं। अपकार करने वाले पर भी जो इस प्रकार की सद्भावना रखते हैं। वस्तुतः आपके गुणों का उत्कीर्तन करना हमारी शक्ति से परे है।

आचार्यप्रवर के प्रबल प्रभाव से यतियों के प्रमुख गढ़ जोधपुर में धर्म की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी। यतिगणों का प्रभाव उसी तरह क्षीण हो गया जिस तरह सूर्य के उदय होने पर तारागणों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वे मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे कि हमने बहुत ही अनुचित किया। यदि हम ऐसा नहीं करते तो उनके धर्म का प्रचार नहीं हो पाता। हमारा प्रयास उन्हीं के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

जोधपुर संघ की प्रार्थना को सन्मान देकर आचार्यप्रवर ने संवत् १७६८ का चातुर्मास जोधपुर में किया। उस वर्ष जोधपुरनरेश महाराजा अजितसिंहजी अनेकों बार आचार्यप्रवर के प्रवचनों में उपस्थित हुए और आचार्य प्रवर के उपदेश से प्रभावित होकर शिकार आदि न करने की प्रतिज्ञाएँ ग्रहण कीं और हजारों व्यक्तियों ने आचार्य श्री के सत्संग से अपने जीवन को निखारा। वर्षावास में श्रेष्ठिप्रवर रंगलालजी पटवा जयपुर से आचार्यप्रवर के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। उन्होंने आचार्यश्री से विवेदन किया—भगवन् ! आपश्री के उपदेश से प्रभावित होकर मैंने श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे। परिग्रहपरिमाणव्रत में मैंने पाँच हजार रखने का विचार किया था, किन्तु आपश्री के संकेत से मैंने पच्चीस लाख की मर्यादा की। उस समय मेरे पास पाँच सौ की भी पूँजी नहीं थी। पर भाग्य ने साथ दिया। जो भी व्यापार किया उसमें मुझे अत्यधिक लाभ ही लाभ हुआ। नवीन मकान बनाने के लिए ज्यों ही नींव खोदी गयी उसमें पच्चीस लाख से भी अधिक की सम्पत्ति मिल गई। मैं चिन्तन करने लगा कि कहीं मेरा नियम भंग न हो जाय, अतः उदार भावना के साथ मैंने दान देना प्रारम्भ किया। किन्तु दिन-दूनी रात चौगुनी लक्ष्मी बढ़ती ही गयी। तब मुझे अनुभव हुआ कि दान देने से लक्ष्मी घटती नहीं किन्तु बढ़ती है। एक शायर ने इस तथ्य को इस रूप में कहा है—

जकाते माल बदर कुनके, फजले ए रजरा।
चो बाग बां बबुर्द, बेशतर दिहद अंगूर॥

अर्थात्—दान देने से उसी तरह लक्ष्मी बढ़ती है जैसे अंगूर की शाखा काटने से वे और अधिक मात्रा में आते हैं।

गुरुदेव ! एक बहुत ही आश्चर्य की घटना हुई। अपराह्न का समय था, एक अवधूत योगी हाथ में तुम्बी लेकर आया और जयपुर की सड़कों पर और गलियों में यह आवाज लगाने लगा—है कोई माई का लाल जो मेरी इस तुंबी को अशर्फियों से भर दे। जब मेरे कर्ण-कुहरों में यह आवाज आयी तब मैंने योगी को अपने पास बुलाया और स्वर्ण मुद्राओं से तुंबी को भरने लगा। हजारों स्वर्ण मुद्राएँ डालने पर भी तुंबी नहीं भरी। मैं मुद्राएँ लेने के लिए अन्दर जाने के लिए प्रस्तुत हुआ। योगी ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—हम साधुओं को स्वर्णमुद्राओं से क्या लेना-देना। साधु तो कंचन और कामिनी का त्यागी होता है। उसने पुनः तुंबी खाली कर दी और कहा—मैं तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए स्वर्ग से आया हूँ। मैंने सोचा, तुम नियम पर कितने दृढ़ हो। तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया। गुरुवर्य ! वे सारी स्वर्ण मुद्राएँ मैंने गरीबों को, जिन्हें आवश्यकता थी, उनमें वितरण कर दीं। वस्तुतः गुरुदेव, आपका ज्ञान अपूर्व है। आपश्री नियम दिलाते समय यदि मुझे सावधान न करते तो सम्भव है मैं नियम का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर पाता। दीर्घकाल से आपश्री के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा थी, वह आज पूर्ण हुई। कुछ दिनों तक श्रेष्ठिवर्य रंगलालजी आचार्यश्री की सेवा में रहे और पुनः लौटकर वे जयपुर पहुँच गये।

इस वर्षावास में अत्यधिक धर्म की प्रभावना हुई। वर्षावास पूर्ण होने पर आचार्यप्रवर ने मारवाड़ के विविध ग्रामों में धर्म का प्रचार किया और पाली चातुर्मास किया। उसके पश्चात् सोजत और जालोर चातुर्मास किये। आचार्यप्रवर ने अथक परिश्रम से मारवाड़ के क्षेत्रों में धर्मप्रचार किया था। उस समय पूज्यश्री धर्मदास जी महाराज के शिष्य पूज्यश्री धन्नाजी महाराज जो साचौर में धर्मप्रचार कर रहे थे उन्होंने सुना कि आचार्यप्रवर अमरसिंहजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराज ने मारवाड़ के क्षेत्र को सुगम बना दिया है और उन्होंने स्थानकवासी धर्म का खूब प्रचार किया है, तब उन्होंने विचार किया कि मुझे भी चलकर उस महापुरुष के कार्य को सुगम बनाने के लिए प्रयास करना चाहिए। अतः वे साचौर से विहार कर पूज्यश्री की सेवा में पधारे। उस समय आचार्यश्री नागोर विराज रहे थे। दोनों ही महापुरुषों का मधुर संगम हुआ। आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज, आचार्य धन्नाजी महाराज से दीक्षा और ज्ञान में भी बड़े थे। अतः विनय के साथ उन्होंने आचार्यश्री से अनेकों जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं और योग्य समाधान प्राप्त कर उन्हें संतोष हुआ। दोनों ही महापुरुषों में दिन-प्रतिदिन प्रेम बढ़ता ही रहा। आचार्य अमरसिंहजी महाराज ने वहाँ से विहार कर मेडता, नागोर, बगडी (सज्जनपुर), अजमेर, किसनगढ़, जूनिया, केकड़ी, शहापुरा, भीलवाडा, कोटा, उदयपुर, रतलाम, इन्दौर, पीपाड, बिलाडा, प्रभृति क्षेत्रों में धर्मप्रचार करते हुए वर्षावास किये। जहाँ भी वर्षावास हुआ वहाँ पर धर्म की प्रबल प्रभावना हुई।

आचार्यप्रवर के प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर कानजी ऋषि के सम्प्रदाय के आचार्यश्री ताराचन्द जी महाराज, श्री जोगराजजी महाराज, श्री मीवाजी महाराज, श्री तिलोकचन्दजी महाराज एवं आचार्यजी राधा जी महाराज, आचार्यश्री हरिदासजी महाराज के अनुयायी श्री मलूकचन्दजी महाराज, आर्याजी फूला जी महाराज, आचार्यश्री परसराम जी महाराज के आज्ञानुवर्ती खेतसिंहजी महाराज, खींवसिंहजी महाराज तथा आर्याश्री केशर जी महाराज आदि सन्त-सती वृन्द **पचबर** ग्राम में एकत्रित हुए और परस्पर उल्लास के क्षणों में मिले और एक दूसरे से साम्भोगिक[१०] सम्बन्ध प्रारम्भ किया तथा श्रमण संघ की उन्नति के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित किये गये। इस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के लघु गुरुभ्राता दीपचन्दजी महाराज एवं प्रवर्तिनी महासती भागाजी भी उपस्थित थीं। स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से यह सर्वप्रथम सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित हुए। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी के पास उस समय का लिखित एक पन्ना है, उससे उस समय की स्थिति का स्पष्ट परिज्ञान होता है।

पचवर से विहार कर आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज ने किसनगढ़ में चातुर्मास किया। वर्षावास के पश्चात् वहाँ पर परमादरणीय आचार्यश्री भूधरजी महाराज के शिष्य उग्र तपस्वी श्रद्धेय आचार्य रघुनाथमलजी महाराज, श्रद्धेय आचार्यश्री जयमलजी महाराज, आदि सन्तों ने तथा आर्या वखताजी ने आचार्यश्री के साथ स्नेह सम्बन्ध स्थापित किया और एक बनकर धर्म की प्रभावना प्रारम्भ की। आचार्य प्रवर ने सं० १८११ में पुनः जोधपुर चातुर्मास किया। आचार्यप्रवर के उपदेशों से धर्म का कल्पवृक्ष लहलहाने लगा। जोधपुर का चातुर्मास सम्पन्न कर आचार्यश्री सोजत, बगड़ी, शहापुरा होते हुए अजमेर वर्षावास हेतु पधारे। क्योंकि अजमेर संघ आचार्यश्री की वर्षों से भावभीनी प्रार्थना कर रहा था।

आचार्यश्री का स्वास्थ्य वृद्धावस्था के कारण कुछ शिथिल हो रहा था। किन्तु शरीर में किसी प्रकार की व्याधि न थी। उनके शक्तिशाली नेतृत्व में धर्म संघ अभ्युदय के शिखर को स्पर्श कर रहा था, प्रगति के नये उन्मेष नयी सम्भावनाओं को खोज रहे थे। आचार्यश्री ने अपने शिष्यों को संस्कृत, प्राकृत और आगम साहित्य का उच्चतम अध्ययन करवाया था। स्वयं आचार्यश्री के हाथ के लिखे हुए अनेकों ग्रन्थ जोधपुर, जालोर, अजमेर और खण्डप तथा अन्य भण्डारों में मैंने देखे हैं। उनका लेखन शुद्ध है; लिपि इतनी बढ़िया और कलात्मक तो नहीं किन्तु सुन्दर है जो उनके गहन अध्ययन और प्रचार की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत करती है। अत्यन्त परिताप है कि व्यवस्थापकों की अज्ञता के कारण उनके हाथ के लिखे हुए अनेकों ग्रन्थ दीमकों के उदरस्थ हो गये, उन दीमकों की ढेर में से कुछ प्रतियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं, जो मेरे संग्रह में हैं।

इस वर्षावास में आचार्य प्रवर ने विशेष जागरूकता के साथ विशेष साधनाएँ प्रारम्भ कीं। उन्हें पूर्व ही यह परिज्ञान हो गया था कि मृत्यु ने अपने डोरे डालने प्रारम्भ कर दिये हैं और अब यह शरीर लंबे समय तक नहीं रहेगा। अतः उन्होंने आलोचना संल्लेखना कर पाँच दिन का संथारा किया और ९३ वर्ष की आयु पूर्ण कर संवत् १८१२ में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस संसार से अन्तिम विदा ली।

श्रद्धालु गण की आँखों में मोती चमक रहे थे, सर्वत्र एक अजीब शांति थी। चारों ओर सभी गमगीन थे, सभी का हृदय वेदना से भीगा हुआ था। दूसरे दिन अन्तिम बिदा की यात्रा प्रारम्भ हुई। विशाल जनसमूह, जिधर देखो उधर मानव ही मानव; सभी चिन्ताशील; हजारों आँखों से झरते हुए मोतियों की बरसात से अजमेर की पवित्र धरती भीग उठी। बोलने को बहुत कुछ था, किन्तु बोलने की शक्ति कुण्ठित हो चुकी थी। सब देख रहे थे, सुन रहे थे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु यह सब कुछ कैसे हो गया यह समझ में नहीं आ रहा था। आचार्यश्री की अर्थी के साथ लड़खड़ाते हुए कदमों से लोग चल रहे थे। उनके अवरुद्ध कण्ठों से एक ही स्वर निकल रहा था—

जीवन के उपवन में आये, आकर फिर क्यों लौट चले।
मधुर प्रेम की बीन बजाकर, अब अपना मुँह मोड़ चले॥

किन्तु सुनने वाला तो बहुत दूर चला गया था, जहाँ हजारों कण्ठों का आर्तनाद भी पहुँच नहीं सकता। शिव जा चुका था, शव में देखने और सुनने की कहाँ शक्ति थी ?

आचार्यश्री के अन्तिम पार्थिव शरीर को देखने के लिए सभी व्याकुल थे, देखते ही देखते चन्दन की लकड़ियों की आग ने उनके पार्थिव शरीर को जलाकर नष्ट कर दिया।

उस विमल विभूति के वियोग ने समाज को अनाथ बना दिया। श्रद्धालुगण यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं थे कि ये हमारे बीच में नहीं हैं। उनका भौतिक शरीर भले ही नष्ट हो गया था किन्तु यशःशरीर से वे जीवित थे और आज भी जीवित हैं।

आचार्यप्रवर का जीवन प्रारम्भ से ही चमकते हुए नगीने की तरह था और अन्त तक वे उसी प्रकार चमकते रहे। वे स्थानकवासी समाज के एक ज्योतिर्मय स्तम्भ थे। उनका जीवन पवित्र था, विचार उदात्त थे; और आचार निर्मल था। उन्होंने जैन शासन की महान् प्रभावना की थी।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ नृप अनंगपाल बावीसमाँ बत्तीस लक्षण तास।
संवत् जहाँ नो सई निडोत्तर (९०९) वर्ष मीत सुप्रकाश॥
गुरुवार दसमी दिवस उत्तम तह आषाढ़े मास।
दिल्ली नगर करि गढी किल्ली कहे कवि किसनदास॥
सो गढ़के जब छखेडी उतपत्ति गड तह वेर।
सो वह हुई किल्ली वहाँ गाडी भई ढिल्ली फेर॥

२ संवत् सात सौ तीन दिल्ली तुअर बसाई अनंगपाल तुअर। —**पट्टावली समुच्चय,** भाग १, पृ० २०५

३ Cunnigham : The Archaeological Survey of India, p. 140.

४ दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ, पृ० ६।

५ राजपूताने का इतिहास, प्रथम जिल्द, पृ० २३४।

६ इतिहास प्रवेश, भाग १, पृ० २२०।

७ टॉड—राजस्थान का इतिहास, पृ० २३०।

८ "देशोऽस्ति हरियानाख्यो पृथिव्यां स्वर्गसंनिभः। दिल्लीकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता।"

९ नं० १ देखिए। १० जैन तीर्थ सर्व संग्रह, ले० अंबालाल, पृ० ३५२।

११ ले० वर्धमान सूरी। १२ उपदेशसार की टीका। १३ ले० जिनपाल उपाध्याय।

१४ ले० जिनप्रभ सूरी, सं० जिनविजय, प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

१५ ले० विनयप्रभ उपाध्याय : प्रका० 'जैन सत्य प्रकाश' अन्तर्गत अहमदाबाद।

१६ बहादुरशाह (१७०७-१२) औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बहादुरशाह गद्दी पर बैठा। बूढ़ा बहादुरशाह उदारहृदय और क्षमाशील मनुष्य था। इसलिए कभी-कभी इतिहासकार उसे शाह-ए-बेखबर कहा करते हैं।
—**भारतवर्ष का इतिहास**

१७ पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं असंवसमाणीवि गब्भं धरेज्जा तं जहा—
१ इत्थी दुव्वियडा दुण्णिसण्णा सुक्कपोग्गले अधिट्ठिज्जा।
२ सुक्कपोग्गलसंसिट्ठे वसे वत्थे अन्तोजोणीए अणुपवेसेज्जा।
३ सइं वा से सुक्कपोग्गल अणुपवेसेज्जा।
४ परो वासे सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा।
५ सीओदगवियडेणं वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गला अणुपवेसेज्जा—इच्चेतेहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेणं सद्धिं असंवसमाणीवि गब्भं धरेज्जा। —**स्थानाङ्ग**—स्थान ५, सूत्र १०३,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८ यदा नार्य्याविुपेयातां, वृषस्वन्त्यौ कथञ्चन ।
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनास्थिस्तत्र जायते ॥१॥
ऋतुस्नाता तु या नारी, स्वप्ने मैथुनमावहते ।
आर्त्तवं वायुरादाय, कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥२॥
मासि मासि विवर्धेत, गर्भिण्या गर्भलक्षणम् ।
कलंलं जायते तस्याः वर्जितं पैतृकैगुणैः ॥३॥ —सुश्रुत संहिता

१९ चत्तारि मणुस्सीगब्भा पं० तं० इत्थित्ताए पुरिसत्ताए, णपुंसगत्ताए बिबत्ताए ।
अधसुक्कं बहु ओयं, इत्थी तत्थप्पजायइ
अप्पओयं बहूसुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ ॥
दोण्हंपि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे नपुंसओ
इत्थीओतसएमाओगे, बिम्बं तत्थप्पजायई ॥ 'स्थानाङ्ग'—पृ० ५१२-५१३ आचार्य अमोलक ऋषि

२० Glimpses of World Religion--Charles Dickens, Jaico Publishing House, Bombay, pp. 201-202-203.

२१ "बिस्मिल्लाह रहमानुर्रहीम"—कुरान १-१.

२२ Towards Understanding Islam—Sayyid Abulatt'la Mamdudi, pp. १८६-१८७ ।

२३ "फला तज अलू बुतून मका वरक्त हय बतात ।"

२४ व मन् अहया हा फकअन्नमा अह्यन्नास जमीअनः । कुरान श. ५/३५

२५ दशवैकालिक ६/२० ।

२६ अत्थि एरिसो पडिबंधो । सव्व जीवाणं सव्वलोए । —प्रश्नव्याकरण १/५

२७ इच्छा हु आगास समा अणंतिया । —उत्तराध्ययन ९/४८

२८ कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । —दशवैकालिक २/५

२९ वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था । —प्रश्नव्याकरण १/५

३० उत्तराध्ययन २६/२३ ।

३१ निशीथभाग्य गाथा १३९० भाग २, पृष्ठ ६८१ ।

३२ गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं भासं भासति ताहेणं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ जाहेणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिज्जूहित्ताणं भासं भासइ ताहे सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं भासइ—**श्री व्याख्या-प्रज्ञप्तौ षोडश शतकस्य द्वितीयोद्देशे ।**

३३ कन्नेट्ठियाए व मुहणंतगेण वा विणा ।
दरियं पडिक्कमे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं ॥ —महानिशीथ सूत्र अ. ७

३४ तथा संपातिमा सत्त्वाः सूक्ष्मा च व्यजपनोऽपरे ।
तेषां रक्षानिमित्तं च विज्ञेयो मुखवस्त्रिका ॥ —योगशास्त्र हिन्दी भा. पृ० २६०

३५ ज्ञातासूत्र अध्ययन १४वाँ ।

३६ निरयावलिका ।

३७ भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्देशक ३३ ।

३८ हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्त्यल्पभाषिणः ॥ —शि० पु० ज्ञान संहिता

३९ श्रीमाल पुराण अध्याय ७-३३ ।

४० 'साम्भोगिक' यह जैन परंपरा का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है आहार, आदि तथा अन्य वस्तुएँ एक सन्त का दूसरे सन्त को आदान-प्रदान करना, यह संभोग कहलाता है । जैन परम्परा में एक दूसरे के साथ प्रदान की जाने वाली वस्तुएँ बारह प्रकार की मानी गयी हैं और उनका परस्पर आदान-प्रदान ही साम्भोगिक सम्बन्ध कहा जाता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org